होता है कैसे रचना का जन्म

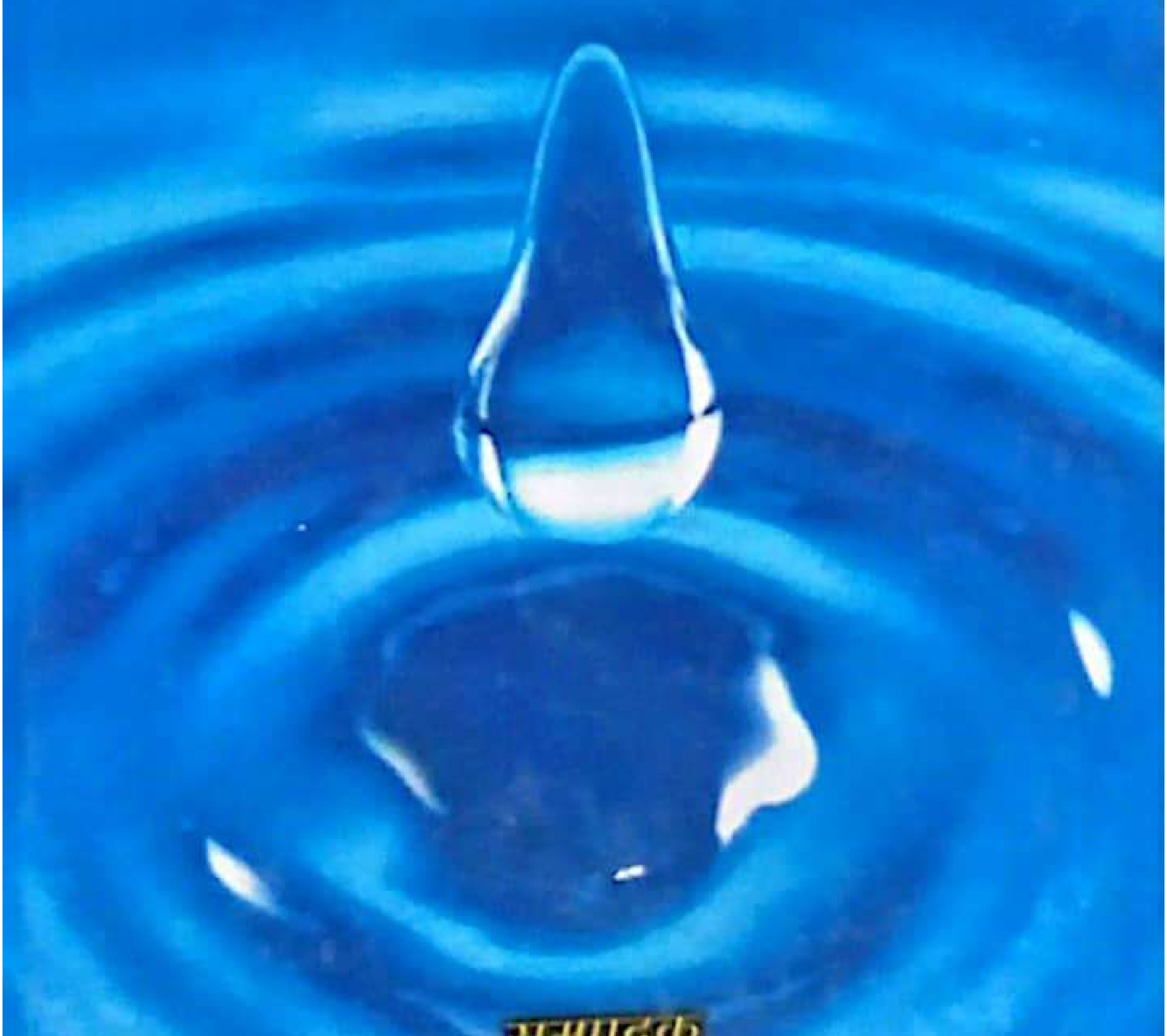

सम्पादक
डॉ इन्दु जोशी

कौतूहल और जिज्ञासा आविष्कारों को जन्म देते हैं। प्रकृति के रहस्यों को जानने की लालसा ने मनुष्य को सदैव प्रगति-पथ पर चलते रहने को प्रेरित किया और इस पुस्तक की सम्पादक कवयित्री इन्दु **जोशी** को उत्प्रेरित किया कि वे रचना-प्रक्रिया की जटिल गुत्थी को समझने का प्रयत्न करें। सम्पादक की अथक चेष्टा का ही परिणाम है कि हिन्दी के कुछ शीर्ष रचनाकारों ने उनकी प्रश्नावली को सामने रखकर अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में अपने विचार रखे, जिन्हें एकत्रित करके उन्होने कुछ निष्कर्ष निकाले।

पाठक जब अपने रचनाकारों के प्रश्नोत्तरों से रू-ब-रू होगा, तभी वह जान सकेगा कि **होता है कैसे रचना का जन्म।**

होता है कैसे
रचना का जन्म

सम्पादक : डॉ. इन्दु जोशी

प्रतिध्वनि 2002
कोलकाता - 700 007

© अंशुल तिवारी

होता है कैसे रचना का जन्म : सम्पादक : डॉ. इन्दु जोशी

प्रतिध्वनि2002, 31, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कोलकाता - 700 007 द्वारा प्रकाशित ।
एस्केज़, 8, शोभाराम बैशाख स्ट्रीट, कोलकाता - 700 007 द्वारा मुद्रित ।
प्रथम संस्करण : 2007
मूल्य : एक सौ पचास रुपए । विदेशों में US $ 10
छात्र संस्करण (पेपर बैक) : पचहत्तर रुपए।

HOTA HAI KAISE RACHNA KA JANMA
the creative process edited by DR. INDU JOSHI

गुरुवर
आचार्य कल्याणमल लोढ़ा
को ससम्मान

-इन्दु जोशी

अपनी बात

समाज के बीच रहते हुए व्यक्ति को जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उससे भीतर कुछ स्वयमेव तैयार होने लगता है यानी ली हुई चीज़ बाहर आती है एक रूप लेकर । यह सच है उसे बाहर लाने का माध्यम व्यक्ति होता है । वह चीज़ भीतर से बाहर आती है । भीतर वह कैसे बनती है, कैसे आकार ग्रहण करती होगी, किन-किन चीज़ों के मिश्रण से उसका स्वरूप निर्मित होता है ? रचनाकार का काम इतना ही है वह उसे एक रूप देता है बाहर लाने में, ठीक वैसे जैसे कुम्हार की चाक पर चढ़ी मिट्टी कुम्हार के हाथों के स्पर्श से नई-नई आकृति पाती है । कौतूहल और जिज्ञासा के कारण मेरे मन में प्रश्न कौंधने लगे–

कुछ लिखना है यह अनुभूति रचनाकार को कब होती है ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव रचनाकार की रचना पर पड़ता है ।

क्या रचना पूरी हो जाने पर रचनाकार रिलैक्सड महसूस करता है यानी तनावरहित परन्तु रचते समय रचनाकार क्या महसूस करता है ।

हम परिवेश और रचना के अंतःसंबंधों पर बार-बार चर्चा करते हैं किन्तु क्या कभी रचनाकार को ऐसा नहीं लगता कि रचते समय केवल अपने सामने वह होता है यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति होती है ।

रचनाकार लिखने से पहले काफी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उभर रहा है उसे पकने देते हैं फिर कागज पर उतारते हैं किन्तु क्या सभी रचनाकार ऐसा करते हैं ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं जिनके लिए क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं ? यह आकस्मिकता उनकी प्रेरक शक्ति होती है किन्तु क्या सभी रचनाकारों का ऐसा अनुभव है ?

कभी-कभी यह भी पाया जाता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते, यह अवश स्थिति क्या सभी रचनाकार महसूस करते हैं ?

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था, उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । इस शब्द-स्खलन का शिकार क्या सभी रचनाकार होते हैं ?

कुछ विचारकों का यह मत है कि अवचेतन रचना-कर्म को प्रभावित करता है, क्या वास्तव में रचना-कर्म में अवचेतन की भूमिका ही महत्वपूर्ण है ?

रचना-प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी गूँगे का गुड़ नहीं वरन् यह पारदर्शी तरलता है जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है ।

आखिर रचना प्रक्रिया है क्या ? इसके सारे प्रश्नों ने मेरे मानस को एक अनुसन्धान के लिए प्रस्तुत किया । रचना एक निरन्तर चलनेवाली प्रक्रिया है । जो निरन्तर चल रहा है कभी समाज के माध्यम से, कभी रचनाकार की रचना के माध्यम से, उसको जानने का कौतूहल यदि मेरा विषय बना, एक सत्य से साक्षात्कार की जिज्ञासा ने जन्म लिया है,

प्रयास से उस तक पहुँचने की ललक निश्चय ही सत्य से साक्षात्कार करा सकेगी ऐसा मेरा विश्वास है । यह कार्य की प्रारम्भिक अवस्था है । इस प्रारम्भिक अवस्था में जब मैंने श्रेष्ठ साहित्यकारों के सामने अपने प्रश्न रखे तो इन प्रश्नों ने उन्हें भी परेशानी में डाला ।

राजेन्द्र यादव ने लिखा – **रचना प्रक्रिया के संबंध में जो प्रश्न है वे हैं तो अलग तरह के मगर उत्तर बहुत ध्यान और एकाग्रता माँगते हैं ।**

विष्णु प्रभाकर ने एक के बाद एक कई पत्रों में जवाब दिया । **मैं नहीं जानता कोई लेखक अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में सचमुच बता सकता है । यह विषय बहुत जटिल है । वास्तविक रचना-प्रक्रिया के बारे में बताना असम्भव जैसा है क्योंकि उस समय हम वहाँ होते हैं जहाँ से हमको हमारी खबर नहीं होती । उस अनुभूति को कौन शब्द दे सकता है, रचना-प्रक्रिया की नींव कहाँ पड़ती है और वह किस तरह से एक भवन के रूप में परिवर्तित होती है । इसको कभी-कभी लेखक नहीं पहचान पाता, फिर भी आपकी खोज का निश्चय ही कोई परिणाम निकलेगा ।**

नरेन्द्र कोहली का तो यह कहना कि **इन प्रश्नों का उत्तर ढंग से देकर मैं अपनी पूरी पुस्तक तैयार कर सकता हूँ ।**

नई कविता के उद्घोषक जगदीश गुप्त का मानना था कि आपके प्रश्न प्रेरक हैं सहयोग देना चाहता हूँ । रचना का स्वभाव से सम्बन्धित स्वरचित छंद में उनका कथन है–

आखार-आखर है अरथाकुल, गागर-सागर लौं अवगाहै ।
होन लगै प्रतिबिम्बित रूप, अरूप अकास प्रकाश प्रगटाहै ।
फूटै हरीतिमा लोनी लुनै चुनै, अन्तर के अनुराग को थाहै ।
चित्त हथेरिन में लगि के, मेंहदी लौं रचै जो वहै रचना है ।

और

अनुभूति की रेखै रचे अखरा
अखरान मैं भावना-लीक सुढार सी ।
ऊपजै कछु ऐसी अनन्तता अन्त मैं
फूटि बही सरिता सुरधार-सी
इमि एकमैं दूसरों रूप ढरयौ
प्रतिविम्वित की बनी पाँति-अपार-सी ।
मन मैं कवि की छवि ऐसी भरी
कि धरी जनु आमने-सामने आरसी ।

पहल के संपादक ज्ञानरंजन ने लिखा यह प्रश्नावली मेरे लिए अलादीन का चिराग है,

रचना-प्रक्रिया पर कार्य करने की कई दिनों से छटपटाहट थी । आज काम आसान बन गया ।

भीष्म साहनी ने उत्तर दिया – रचना प्रक्रिया जटिल तो है ही, लिखते समय वह एक संश्लिष्ट रचना-प्रक्रिया का रूप ले लेती है ।

बाबा नागार्जुन का मन्तव्य है– रचना-प्रक्रिया ऐसी प्रक्रिया है जब मैं सोता हूँ तब भी मैं जागता रहता हूं । अन्तःकरण हमेशा जागृत रहता है ।

किन्तु निर्मल वर्मा का पत्र इन सबसे पृथक था– मैं कहानियाँ उपन्यास अवश्य लिखता हूँ लेकिन अपनी सृजन-प्रक्रिया का भेद कभी नहीं खोल पाया हूँ इसलिए उसे भेद के तौर पर मैंने अभेद छोड़ दिया है । चूँकि आपकी समूची प्रश्नावली अलग-अलग ढंग से इसी एक मूल प्रश्न के साथ जुड़ी है इसलिए उन्हें अलग से उत्तर देना भी असंभव है ।

निर्मल वर्मा भेद के तौर पर भले ही अभेद छोड़ दें, सृजन-प्रक्रिया का भेद न खोलें मुझे इस अभेद की तलाश है । श्रेष्ठ साहित्यकारों के पत्रों से एक बात साफ़ जाहिर थी कि मेरे मन में उठे प्रश्न अवश्य लीक से हटकर हैं ।

–रचना-प्रक्रिया स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है ।

–रचना या सर्जना Abstract नहीं होती ।

–यह ब्रह्मानन्द सहोदर है ।

–सर्जना शब्द स्वर से जुड़ा है ।

–सृजन-प्रक्रिया माइण्ड-बॉडी का रिलेशन है ।

–सृजन में संस्कार, स्मृति, प्रतिभा और कल्पना का आन्योन्याश्रित सम्बन्ध है ।

यह कलात्मक है– काव्य के साथ संगीत, चित्र, मूर्ति आदि के भीतर निहित प्रक्रिया से इसका अन्तरंग सम्बन्ध है । केवल साहित्यकार ही नहीं चित्रकार बी. आर. पनेसर, मकबूल फिदा हुसैन, विकास भट्टाचार्य, मनु पारख, रामकुमार, सतीश गुजराल, हेब्बार, संगीत में भीमसेन जोशी, पंडित जसराज, किशोरी अमोनकर, वादन में– रविशंकर, हरिप्रसाद चौरसिया, विलायन खान, अमजद अली खान, विस्मिल्लाह खान, नृत्य में बिरजू महाराज, सितारा देवी, कुमुदिनी लखिया, यामिनी कृष्णमूर्ति, सोनल मानसिंह की आँख से कला की प्रक्रिया को देखना वर्तमान युग की एक आवश्यकता है क्योंकि रचना-प्रक्रिया केवल लेखकों की प्रक्रिया नहीं अपितु कला की भी प्रक्रिया है । रचनाकार की रचना-प्रक्रिया के साथ ललित कला का तात्विक अन्तःसम्बन्ध है । संगीत के संदर्भ में मुझे तेरहवीं से सोलहवीं शताब्दी का स्मरण आया जब अमीर खुसरो, गोपाल नायक, हरिदास,

बैजू बावरा जैसे संगीतज्ञ हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से काव्य और संगीत का सम्बन्ध स्थापित किया । मैथमेटिशियन श्रीनिवास अयंगर, बिथोवन (प्रसिद्ध संगीतकार), अलबर्ट कामू का स्मरण इस कला के अन्तर्गत करना सार्थक होगा ।

सृजन विज्ञान भी करता है किन्तु वैज्ञानिक सृजन मेन्टल एक्टिविटी नहीं है ।

वैज्ञानिक की रचना-प्रक्रिया भौतिक है कवि की रचना-प्रक्रिया मानसिक और आध्यात्मिक है ।

रचना के मूल तत्व है व्यक्तित्व-सामान्य व्यक्तित्व-सर्जक का व्यक्तित्व । कलाकार का सम्बन्ध शब्द से है, संगीतकार का स्वर से ।

व्यक्तित्व में आरम्भ से अन्त तक अन्तःदर्शन की गवेषणा ।

चित्रकार एब्सट्रेक्ट रचना करता है स्थूलता की दृष्टि से ।

संगीत सूक्ष्म होता है ।

प्रजापति ने सृष्टि-रचना पंच तत्व से की है ।

कवि से चित्रकार स्थूल है ।

रंग पदार्थ है, शब्द पद्य है, स्वर सूक्ष्म तत्व है ।

कवि का अन्तर्सम्बन्ध देखें– संगीतज्ञ, सूक्ष्म-चित्रकार कम सूक्ष्म किन्तु कवि सूक्ष्म से चिन्तन प्रधान पुनः दर्शन की ओर उन्मुख होता है ।

अनुभूति और अनुभव परसेपशन और कन्सेपशन दोनों की प्रधानता कवि में होती है ।

अनुभूति तात्कालिक होती है बाद में अनुभव में परिवर्तित हो जाती है ।

अनुभूति स्मृति से जुड़ जाती है ।

अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध से सम्बन्धित होती है ।

अनुभूति में अभिव्यक्ति नारंगी के छिलके की तरह होती है ।

अभिव्यक्ति तात्कालिक होती है ।

व्हाइटहेड : इस रचनात्मकता का आदिम दृष्टान्त ईश्वर है । प्रेरक तत्व से ही संसार की सर्जना हुई होगी । कौन से प्रेरक तत्व, क्या कारण रहा होगा, इसे हमें सबसे पहले समझना होगा ।

रचना प्रक्रिया शर्तों में नहीं बँधी होती ।

यह कारण और कार्य का सम्बन्ध है ।

रचना-प्रक्रिया मौलिक होती है ।

विधाता और उसकी रचना-प्रक्रिया एक होती है, उसी प्रकार रचनाकार और उसकी रचना में पार्थक्य नहीं होता ।

रचनाकार विचार, इच्छा से प्रतिबंधित होता है ।

रचनात्मकता की ऊर्जा को, बारीकी को सबसे पहले समझना चाहिए ।

रचना-प्रक्रिया **मेडीटेशन** है ।

यह द्विधा रहित होती है ।

यह **रिलेक्शेसन** है, आनन्द है ।

रचना तन्मयता के क्षणों की देन है ।

शब्द देह है, मन आत्मा है ।

यह एक सकारात्मक मनोवृत्ति है जो मनोजगत् से संचालित होती है ।

इसकी अनुभूति आत्मविश्वास से उपजती है ।

सृजनशीलता एक सत्य है जिसका कोई शास्त्र नहीं होता ।

कबीर के शब्दों में **ढाई आखर प्रेम** का यानी सृजन की शक्ति है ।

रचना-प्रक्रिया स्वयं उन्मेष है ।

टुकड़े-टुकड़े रूप में मैंने रचना-प्रक्रिया को लेकर मन में उठने वाले विचारों को आपके सामने रखा है । क्रमबद्ध रूप में यहाँ प्रस्तुत नहीं किया, ऐसा सोचना स्वाभाविक है ।

सचमुच रचना-प्रक्रिया एक साधारण विषय नहीं है । जब मुझे राह चलते कोई मिल जाता, जान जाता, रचना-प्रक्रिया मेरा विषय है अनुसन्धान का । चट से उसका जवाब होता– रचना-प्रक्रिया किसी के समझ में नहीं आ सकती इस पर परिश्रम करना व्यर्थ है । मेरा विश्वास और गहरा जाता कि इस जगत् में मनुष्य चाहे तो रहस्य की बंद पंखुरी को एक-एक करके खोल सकता है । समाधि लगाकर महसूस तो करें कि रचना का बीज हमारे भीतर कैसे पैदा होता है । कैसे आकार ग्रहण करता है । जब सोनोग्राफी जैसे, वैज्ञानिक अविष्कार से बच्चे के शरीरांगों का पता चल सकता है तो क्या रचनाकार को किसी नए यन्त्र का निर्माण करके भीतर जन्म लेने वाली रचना की प्रक्रिया को जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिए ।

पहले काव्य के सन्दर्भ में रचना-प्रक्रिया की विवेचना करें । आधुनिक हिन्दी काव्य में स्वतन्त्रता के बाद जो परिवर्तन हुआ वह कई दृष्टियों से बेजोड़ है । छायावादी या रहस्यवादी कवियों की रचना-प्रक्रिया वैयक्तिक स्तर पर कल्पना प्रसूत होकर गहन भावभूमि पर अभिव्यक्त थी जबकि काव्य चाहे प्रयोगवादी हो, चाहे नई कविता, चाहे जनवादी हो, यह न तो केवल वैयक्तिक है, न ही काल्पनिक उसे हम **रामस्वरूप चतुर्वेदी** के शब्दो में– **एक प्रकार से आँखों देखा हाल** कह सकते हैं । इस युग के साहित्य में कवियों ने जो दृष्टि अपनाई है वह युग-सापेक्ष होकर प्रासंगिकता से सम्बद्ध है । यह प्रासंगिकता उत्पन्न हुई है आधुनिक बोध से, युग-बोध से और अस्तित्वबोध की सामाजिक भूमिका से । सच तो यह है कि सामाजिक परिवर्तनों की गहनता ने कवि की रचना-प्रक्रिया को प्रभावित किया है और देखा जाए तो यह प्रभाव समस्त भारतीय भाषाओं में भी द्रष्टव्य है ।

एक दृष्टि जीवंत और सार्थक परम्परा की ओर । उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत रचना-प्रक्रिया की गतिशील धारा की चर्चा सार्थकता के प्रमाण के लिए अनिवार्य है । सबसे पहले विज्ञान । विज्ञान क्या मानता है ? **ब्रह्माण्ड फैल रहा है** । इस ब्रह्माण्ड में हिरण्यगर्भ अनेक हैं । अन्वेषक का कथन है कि ब्रह्माण्ड के सब **नैब्युला** (Nebula) अर्थात हिरण्यगर्भ हमारी ग्लैक्सी से दूर जा रहे हैं । हमारी पृथ्वी आकाश गंगा का एक छोटा-सा कण है । अन्य हिरण्यगर्भ इससे दूर जा रहे हैं । ये सब एक गति से जा रहे हैं और उस गति से यह अनुमान लगाया जा सकता है अरबों-करोड़ों वर्ष पहले वे हिरण्यगर्भ हमारी गैलेक्सी (आकाश-गंगा) का ही अंग थे । कहने का प्रयोजन है अन्तरिक्ष की मुख्य घटनाएँ जो जगत् के विकास के आरम्भ में हुई थीं उनके उपरान्त कुछ भी उल्लेखनीय नहीं हुआ पृथ्वी पर प्राणी की उत्पत्ति के अतिरिक्त । ब्रह्माण्ड का अर्थ है जो महान् अण्डे से उत्पन्न हुआ । अण्डा फटा तो फिर इससे ग्रह बने और अन्तरिक्ष बना । अन्तरिक्ष अनन्त है, परमात्मा अनन्त है । परमात्मा की कामना से सृष्टि रचना हुई । सृष्टि रचना के समय का कोई लेख अथवा साक्ष्य नहीं है और जो कुछ भी उस समय के विषय में कहा गया है वह अनुमान का परिणाम है । वह अनुमान क्या है उसका वर्णन यहां आवश्यक नहीं है । **मैटर** का कोई भी अंश स्वतः हरकत में नहीं आ सकता । रचना आरम्भ कैसे हुई ? यह बिना किसी चेतन साधन के सम्भव नहीं ।

ब्रह्मवेत्ता लोगों की मान्यता है **जगत् का कारण क्या ब्रह्म है ? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं ? किससे जीवित रहते हैं ? हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं अर्थात् ठहरे हुए हैं ? किसकी व्यवस्था से बँधे हुए हैं ?** सुख-दुख का भोग करते हैं तो रचनाकार की रचना के विषय में मेरे प्रश्न हैं—

रचना का कारण क्या है ? रचना कहाँ से उत्पन्न हुई है ? इसके जन्म की प्रक्रिया कैसी

है ? रचना रचने को कवि क्यों विवश है और रचकर आनन्द पाता है । बार-बार नई रचना की प्रेरणा प्रसव-वेदना को भोगने को मजबूर करती है । मनुष्य की चेतना व्यापक चेतना का अनेक स्तरों पर अनुभव करती है सत्ता का विश्लेषण करती है, विविध दृष्टान्त देती है तो रचनाकार की रचना अबूझ क्यों ?

रचना-प्रक्रिया वस्तुतः एक ग्रहण की प्रक्रिया है । आधुनिक आलोचना के जो एकेडेमिक प्रतिमान है उनसे कविता की रचना-प्रक्रिया का अपेक्षित विश्लेषण या आधुनिक कविता का उचित मूल्यांकन और भविष्य की कविता का सही दिशा निर्देश नहीं होगा । रचनाकार की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण तभी होगा जब एकेडेमिक प्रतिमान से अलग हटकर कविता या रनचाकार की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करना होगा । सही दिशा निर्देश तक पहुँचने से पहले रचना और प्रक्रिया को अलग अलग समझें ।

सम्पूर्ण सृष्टि को देखकर वैदिक ऋषियों ने कहा–

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

(देव काव्य को देखो जो न कभी मरता है, न जीर्ण होता है, ऐसा है देव काव्य)

सृष्टि के स्रष्टा की कल्पना उपनिषद्कार इस रूप में करते हैं– **पहले मात्र ब्रह्म था उसके अतिरिक्त कोई चेष्टावान् नहीं था । उसकी चेष्टा ने लोक रचना की ।**

ॐ आत्मा इदमेवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचनमिषत् । स ईक्षत् लोकाक्षु सृजा इतिं । शैव दर्शन में इस लोकरचना को शिव की क्रीड़ा कहा गया है । इसमें शिव को आनन्द प्राप्त होता है । आनन्द उनका नित्य आहार है और सन्तों का हृदय उनका निवास स्थल है ।

क्रीड़ा ते लोकरचना सखा ते चिन्मय शिवः ।
आहाररते सदानन्दो वासस्ते हृदयं सताम् ।।

सृष्टि कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू का काव्य है मानव निर्मित काव्य । जगत् का प्रजापति कवि है ।

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

ऋग्वेद में लिखा है– रचना हृदय द्वारा निर्मित है ।

रचना की एक शास्त्रीय अवधारणा भी है । भरतमुनी के नाट्शास्त्र से आनन्दवर्द्धन भामह, दंडी, राजशेखर, कुन्तक ने काव्य-परम्परा का गहन और सूक्ष्म अनुशीलन किया है । काव्य-रचना का किसी भी कला सृष्टि का अधिकार तभी आरम्भ होता है जब व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विलयन हो जाए– यह मानना तो दूर की बात रही– आज का कवि

साधारणतया इतना भी नहीं मानता कि कविता या कि कला-सृष्टि व्यक्ति के विलयन का माध्यम है कि कविता के द्वारा कवि व्यक्ति को वृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है । वरन् आज का कवि तो कविता को व्यक्तित्व की, व्यक्ति के अहं की प्रखरतर अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करनेवाली रचना मानता है । **अज्ञेय** का कहना है कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ, अधिक से अधिक उस श्रेणी में हूँ जो कविता को अहं के विलयन का साधना मानते हैं । बल्कि सच कहूँ तो इतना भी इसलिए कि मैं युग की सीमा को इस हद तक स्वीकार करता हूँ और उसमें बद्ध होने को विवश हूँ । नहीं तो मुझे सर्वथा स्वीकार्य है कि प्राचीन कवियों की महत्ता का असल रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके ही लिखते थे । उनके लिए कविता स्वास्थ्य लाभ का साधन नहीं, स्वस्थ व्यक्ति की आनन्द साधना थी । मेरी कविता उसकी अनुगमिनी नहीं है तो यह मेरी सीमा है । उस सीमा के लिए किसी हद तक मेरा युग भी उत्तरदायी है– इतना ही अपने बचाव में कह सकता हूँ । कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है यह भी कहना ठीक होगा कि यह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है और जितना भी व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है । किन्तु यदि यह हम मान लेते हैं तब हम **व्यक्ति-सत्य** और **व्यापक सत्य** की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उसके कई स्तरों की उद्भावना करते हैं और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है ।

पाश्चात्य क्षेत्र में **हर्बट रीड** ने इस क्षेत्र में कार्य किया । **ऑर्थर कोयसलर** को पन्द्रह वर्ष रचना कर्म पर एक विशेष दृष्टि से खोज करने में लगे । उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन की कोशिश की ।

रचना के अन्तर्गत प्रक्रिया एक आन्तरिक व्यापार है । **जार्ज ह्वेली** का कथन है कोई कलात्मक कृति जिसका परिणाम होती है– एक साथ ही अन्वेषण और आत्मान्वेषण दोनों ही है । वह एक प्रकार का आत्मबोध है जो रचनात्मक संसार को अधिक वास्तविक बनाता है । कोई भी रचना एक सविशेष प्रक्रिया होती है । **सी. जी. युंग** का यह कथन उल्लेखनीय है **सर्जनात्मक प्रक्रिया** जो प्रतिक्रिया से मूलतः भिन्न है । मानव बुद्धि की पकड़ में संभवतः कभी नहीं आ सकेगी । उसके आविर्भाव की धूमिल अनुभूति ग्रहण करना तो संभव है किन्तु पूर्णरूप से उसे समझा नहीं जा सकता । **हेराक्लाइतस** ने अपने **प्रैग्मेन्ट्स** में **हेनरी बर्गसाँ** ने **क्रिएटिव इवोल्यूशन** में, **डार्विन** ने **डिस्टेन्ट ऑफ़ मैन** में, **हर्बट स्पेन्सर** ने **प्रिन्सिपल्स ऑफ़ साइकॉलोजी** में, **जान ड्यूई** ने **आर्ट एज एपीरियन्स** में व्यापक अर्थ में प्रक्रिया की व्याख्या प्रतिपादित है । **विलियम जेम्स, फ्रायड, एडलर, मैकड्यूगल, युंग, सर रसल ब्रेन** आदि ने प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक व्याख्या दी है ।

देखा जाए तो अनुभव हमें प्रत्येक क्षण आन्दोलित करते हैं और प्रत्येक परिस्थिति में अभिव्यक्त हमारी मानसिक प्रतिक्रिया हमारे भीतर निरन्तर रचते हुए विश्व अनुभवों का

सम्यक् परिणाम होती है । वास्तव में कृतिकार अपने मानस के उस अंश को देख भी नहीं सकता जिसमे रचना का कार्य सम्पन्न होता है । इसका यह अभिप्राय नहीं कि मानस का कोई विशिष्ट अवयव ही रचना कर सकता है । पर रचना की प्रेरणा जिन आभ्यन्तर दबावों, दमन-उन्नयन क्रियाओं से मिलती है, वे जिन गुत्थियों के साथ अभिन्न रूप से संग्रथित होती है, उन्हें कृतिकार नहीं देख सकता । देख सकता तो वे हल हो जातीं और उनमे शक्ति संचय हो नहीं पाता । उनकी शक्ति प्रवणता का रहस्य और प्रतिज्ञा यही है कि वे कृतिकार की दृष्टि की ओट है । यह दूसरा विपर्यय है कि जहाँ कलाकार के लिए रचना-प्रक्रिया पर बल देना आवश्यक हो गया है वहाँ वह वास्तव में अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कोई प्रामाणिक बात नहीं कह सकता । तब भी आज के वैज्ञानिक युग में यह भी एक प्रामाणिक तथ्य है कि अनुसन्धात्मक प्रवृत्ति से सत्य को न जाना जाए यह कहना भूल होगी ।

रचना-प्रक्रिया के विषय में जानकारी पाने के पीछे मेरा आग्रह सिर्फ़ इसलिए है कि हिन्दी साहित्य में रचना-प्रक्रिया को लेकर विशेष कार्य नहीं हुआ है, छिटपुट प्रयास के अलावा विशेष प्रयास इके प्रति रचनाकारों में जगा हो, मुझे नहीं लगता । रचनाकारों के पारस्परिक सहयोग से रचना और रचनाकार की प्रक्रिया को समझना मेरा उद्देश्य है । डॉ. खरोल ने कहा था कि **मनुष्य के पास विश्व की महत्तम उपलब्धि के रूप में उसका मस्तिष्क सुरक्षित है पर वर्तमान परिस्थितियों में उसके नष्ट हो जाने की संभावना है । सृष्टि के विकास का इतिहास उसकी सर्जनात्मकता का इतिहास है उसकी मानसिक सक्रियता का इतिहास है । हमने इसके फलों को चखना और उसका आस्वादन करना तो सीखा है लेकिन उस क्रिया से प्रायः पूरी तरह अनभिज्ञ है जिसके माध्यम से ये फल हमें प्राप्त हुए हैं ।**

डॉ. खरोल की इस अवधारणा का केन्द्रीय भाव है मनुष्य ने मानसिक सक्रियता का आस्वादन करना सीखा है किन्तु माध्यम से प्राप्त होने वाले फलों की क्रिया से मनुष्य अनभिज्ञ है । अनभिज्ञ से भिज्ञ होना मनुष्य की कोशिश होनी चाहिए । भगवान श्रीकृष्ण गीता के एक प्रसंग में अर्जुन से कहते हैं– **किसी कार्य की नियामक कई बातें होती हैं, अधिष्ठान, करने वाली योग्यता, विभिन्न सामग्री और साधन,** इर्द-गिर्द के विविध लोगों की विविध चेष्टाएँ एवं दैव । इसलिए करने वाले किसी कार्य के लिए पूर्ण उत्तरदायी चेतना को नहीं माना जा सकता । चेतन का मानस रूप-परिग्रह करते समय अनेक बाधाओं से टकराता है ।

सौन्दर्यशास्त्रियों और गेस्टाल्ट मनोविज्ञानवादियों ने मूर्तियों और चित्रों की परीक्षा करने के लिए एक्स किरणों का प्रयोग किया है । इस प्रयोग का लक्ष्य था कि सौन्दर्य कृतियों-विशेष कर चित्र शिल्प के ऊपर भिन्न-भिन्न गहराई की किरणें डालकर कलाकार की उस

सर्जन-प्रक्रिया (क्रियेटिव प्रोसेस) का अध्ययन किया जाए । सर्जन प्रक्रिया के अवसर पर उस आधार या माध्यम के व्यक्तित्व, निर्देश, अनुशासन और प्रतिरोध की मात्रा की जाँच की जाए और विभिन्न शिल्प युगों की विशिष्ट शिल्प शैलियों का निर्धारण करके किसी कलाकृति के ठीक-ठीक समय का पता लगाया जाए । एक्स किरण आधुनिक विज्ञान की देन है । यह रंगों के विभिन्न परतों के अन्दर प्रवेश करके उनकी उस रूप-रेखा की छानबीन कर लेती है जो कलाकार के चित्त में आविर्भूत होकर प्रथम बार आधार फलक पर उतरी थी । अतः भिन्न-भिन्न (मिली-माइक्रोन, तरंग दैर्घ्य की किरणें जब चित्र की सतह पर पड़ती है तो क्रमशः अवचेतन की सक्रियता के भिन्न-भिन्न स्तर चित्रों के मूल रूपों में चेतन (युग, शैली, कौशल) की दस्तंदाजी एवं रेखाओं के परिवर्तनों का बोध होता है । इन परिवर्तनों को मापकर प्रयोगकर्ता सर्जनपूर्व की मूल ऊर्जा तथा सर्जन की ऊर्जा के अन्तर को एक ग्राफ़ पन्ने पर अंकित करता है ।

ये ग्राफ़ सिद्ध करते हैं कि सर्जन के पूर्व तथा दौरान में सहमी हुई अस्तव्यस्त शक्ति का टेढ़ा-मेढ़ा प्रभाव होता है । बाद की रेखाओं में शनैः-शनैः स्थायित्व की अधिकता और घबराहट (नर्वसनेस) की कमी आती जाती है । एक्स किरणों ने उसकी इस नर्वसनेस् को पकड़ लिया है । इस प्रकार एक्स किरणें बाधा के तत्वों को समझने में सहायता देती हैं ।

कलाकार की रचना-प्रक्रिया को समझने का प्रयास इस प्रकार भी किया जा सकता है ।

–वह कौन सी प्रेरणा है जो एक बच्चे को कागज पर चूहे या बिल्ली या चिड़िया की अनुकृति प्रस्तुत कर पाने की इच्छा ही शायद उस प्रेरणा की तह में पाई जाती है । मूलरूप में यही इच्छा लेखक के क्षेत्र में भी प्रेरणा का स्रोत बनती है ।

–लिखते समय लेखक रिलेक्सड महसूस नहीं करता । लेखक भावोद्वेगों में डूबा रहता है और अपनी कथावस्तु को अपने अन्दर उतारता हुआ, उसके अपने संवेदन के अनुसार अनुकृति प्रस्तुति करने की कोशिश में रहता है ।

–परिवेश को वह अपनी दृष्टि के अनुरूप अवश्य चुनता है । लेखक का संवेदन और उसकी रचनात्मक क्षमता इसमें सक्रिय होते हैं ।

–लेखक के भीतर जो उठ उभर रहा है वह अन्दर ही अन्दर उसे बेचैन करने लगता है । इसमें लेखक का कलात्मक अवेचतन अधिक सक्रिय होता है, किसी रचना में निहित विचार, रचना के अभिन्न अंग के रूप में उभरता है उसमें खपकर आता है ।

–जो कुछ कौंधता है, वह अवसर क्षणभर में कौंधता है ।

–रचना-प्रक्रिया में अवचेतन ही अधिक सक्रिय होता है । अवचेतन में स्मृतियाँ, अनुभूतियाँ, इच्छाएँ, ललक, संस्कार सभी कुछ भरा होता है । रचना में यही मददगार होते हैं ।

–रचना-प्रक्रिया जटिल तो है ही लिखते समय भले ही लेखक को अनेक जटिल स्थितियों में से गुजरना पड़े पर तैयार हो जाने पर वह एक संश्लिष्ट रचना का रूप ले लेती है ।

रचना प्रक्रिया एक स्पन्द है, This is notting but momentary effect of minds vibration –यह एक स्पन्द है, क्षणिक स्पन्द का परिणाम है, यह मस्तिष्क की कोशिका तंत्रि से झंकृत होता हुआ एक प्रभाव की सृष्टि करता है । यह क्षण विशेष की तरंग है । लेकिन यह क्षण-विशेष है क्या ? इस पर मैं आपको एक कहानी सुनाती हूँ–

एक चित्रकार के चित्रों की प्रदर्शनी लगी थी । बहुत से दर्शकों ने उसके अलग-अलग चित्रों की प्रशंसा की । एक दर्शक एक चित्र विशेष के सामने बहुत देर से खड़ा था । चित्रदीर्घा लगभग खाली हो चुकी थी । उसके बंद होने का समय हो आया । लेकिन वह दर्शक चित्र के सामने खड़ा था । चित्रकार उस व्यक्ति के पास पहुँचा और विनम्रता से दर्शक से पूछा– संभवतः यह चित्र आपको बहुत अच्छा लगा । उस व्यक्ति ने धीरे से कहा– हाँ, पर यह आखिर है क्या । मनुष्याकृति जैसी कोई चीज़ है लेकिन चेहरा नहीं है । लगता है बिना पाँव के यह हवा में जैसे तैर रही है । आप बता सकते हैं । यह क्या है । चित्रकार ने कहा– इस चित्र का शीर्षक है– **द ममेन्ट** । क्षण, सुयोग । दर्शक ने पूछा तो इसकी आकृति स्पष्ट क्यों नहीं है । चित्रकार ने जवाब दिया– **जब यह आता है तो इसे कोई पहचान नहीं पाता** । दर्शक ने फिर पूछा – **और यह हवा में क्यों तैर रहा है** । चित्रकार ने उत्तर दिया– **क्योंकि इसके पैर नहीं है । जितनी तेजी से आता है, उतनी तेजी से चला जाता है** ।

प्रस्तुत पुस्तक में कवि एवं कथाकारों से संबंधित इन्टरव्यू हैं । वस्तुतः वे **इन्टरव्यू** नहीं, प्रश्नावली के उत्तर हैं । संयोग या दुर्योग ऐसा रहा कि इसमें महिला रचनाकार शामिल नहीं हो सकीं । एक तो उनका **रिस्पांस** नहीं था, दूसरा बाद में मुझे लगा कि उनपर एक अलग पुस्तक हो सकती है, इसलिए मैंने उस दिशा में फिर चेष्टा भी नहीं की ।

सब रचनाकारों ने मुझे केवल प्रोत्साहित ही नहीं किया वरन् पूरा सहयोग भी दिया । कविता द्वैमासिक पत्रिका **काव्यम्** के माध्यम से **प्रभात** भैया (सम्पादक : कवि **प्रभात** पाण्डेय) ने इसे लगभग हर अंक में प्रकाशित किया ।

भीष्मजी, शिवप्रसादजी, लक्ष्मीकान्तजी एवं **शलभजी** अब हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनके दिए उत्तर हमें कहीं-न-कहीं उनकी रचना-प्रक्रिया को जानने का संकेत तो देते ही हैं ।

सबको अपना प्रणाम निवेदित करते हुए मैं यह पुस्तक उन जिज्ञासुओं को भेंट करती हूँ, जो सत्य को जानने की इच्छा रखते हैं ।

– इन्दु जोशी

अनुक्रम

भीष्म साहनी	20
लक्ष्मीकान्त वर्मा	25
डॉ. रामदरश मिश्र	31
छविनाथ मिश्र	37
डॉ. शिवप्रसाद सिंह	44
डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव	59
डॉ. रणजीत	65
शलभ श्रीराम सिंह	71
ध्रुवदेव मिश्र पाषाण	77
स्वदेश भारती	85
नरेन्द्र कोहली	91
कुमार रवीन्द्र	107
डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	113
होता है कैसे रचना का जन्म	17

वरिष्ठ कथाकार **भीष्म साहनी** से मैं कभी नहीं मिल पाई । उन्होंने मेरे पत्र के उत्तर में कृपापूर्वक प्रश्नावली के उत्तर ही भेज दिए । कृतज्ञतास्वरूप उन्हीं के विचारों से मैं पुस्तक का आरम्भ कर रही हूँ ।

होता है कैसे रचना का जन्म

भीष्म साहनी

जन्म : 08-.08.1915, रावलपिंडी
निधन : 11.07-2003 नयी दिल्ली

प्रकाशित कृतियाँ :
कहानी-संकलन :
भाग्य रेखा (1953), पहला पाठ (1957)
भटकती राख (1966), पटरियाँ (1973)
वाङ्चू (1978), शोभायात्रा (1981)
निशाचर (1983), पाली (1989), डायन (1998)

बालकथा-संग्रह :
गुलेल का खेल (1980)

उपन्यास :
झरोखे (1965), कड़ियाँ (1970)
तमस (1973), बसंती (1980)
मय्यादास की माड़ी (1988)
कुंतो (1993), नीलू नीलिमा नीलोफर (2000)

नाटक :
हानूश (1976)
कबिरा खड़ा बजार में (1981)
माधवी (1984)
मुआवज़े (1993) (मूल पंजाबी में लिखित)
रंग दे बसंती चोला (1988)
आलमगीर (1999)

आत्मकथा :
आज के अतीत (2003)

अन्य पुस्तकें :
बलराज माई ब्रदर (अँग्रेज़ी में)
अपनी बात
मेरी साहित्य-यात्रा (पंजाबी भाषा में लिखित एक छोटी पुस्तक ।)

वह कौन सी प्रेरणा है जो एक बच्चे को काग़ज़ पर
चूहे या बिल्ली या चिड़िया का चित्र बनाने पर बाध्य करती है ?

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

वह कौन सी प्रेरणा है जो एक बच्चे को काग़ज़ पर चूहे या बिल्ली या चिड़िया का चित्र बनाने पर बाध्य करती है ? आँखों से देखी किसी चीज़ या घटना की अनुकृति प्रस्तुत कर पाने की इच्छा ही शायद उस प्रेरणा की तह में पायी जाती है । मूलरूप में संभवतः यही इच्छा, लेखन के क्षेत्र में भी प्रेरणा का स्रोत बनती है । प्रेमचन्द ने अपनी पहली रचना के बारे में लिखते हुए अपने किसी मामू का ज़िक्र किया है जो उन के घर पर ठहरे हुए थे और उनके व्यवहार को लेकर प्रेमचन्द ने अपनी पहली कहानी लिख डाली थी । कोशिश, उनके अनूठे व्यवहार को काग़ज़ पर उतारने की थी ।

मैंने भी अपनी पहली कहानी किसी महिला पर किए गए दुर्व्यवहार को लेकर लिखी थी । पर बहुत समय बीत जाने के कारंण मुझे उसकी रूपरेखा तक याद नहीं । यह कहानी हाई स्कूल की पत्रिका में छपी थी । बाद में नीली आँखें नाम से एक कहानी छपी थी .। जो निश्चय ही एक घटना पर आधारित थी जो मेरी आँखों के सामने घटी थी ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

लिखते समय तो लेखक रिलैक्सड महसूस नहीं करता, किसी हद तक तनाव की स्थिति ही रहती है पर वह ऐसा तनाव नहीं होता जैसा गाड़ी पकड़ने की हड़बड़ी से या किसी लाभ-हानि की समस्या के कारण होता है । लेखक भावोद्वेगों में डूबा रहता है और अपनी कथावस्तु को अपने अन्दर उतारता हुआ उसको अपने संवेदन के अनुसार अनुकृति प्रस्तुत करने की कोशिश में रहता है । समूची कथावस्तु उस के सामने स्पष्ट हो, ऐसा भी नहीं

होता । जीवन में से उठायी गयी घटना, उस की क़लम के माध्यम से कुछ-कुछ पृथक रूप ग्रहण करने लगती है । यही प्रतिक्रिया अन्त तक चलती रहती है ।

रचना समाप्त होने पर वह निश्चय ही रिलैक्स्ड महसूस करता है क्योंकि उसे जो कहना था, वह कह चुका होता है ।

परिवेश और रचना के अंतः संबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

परिवेश को लेखक, अधिकांशतः बाहर से उठाता ज़रूर है, लेकिन रचना में वह अपनी दृष्टि के अनुरूप ही उसे उतारता है । परिवेश को वह चुनता ही अपनी दृष्टि के अनुरूप है, मतलब कि परिवेश में उसे कुछ ऐसा नज़र आता है जो उसे अपनी रचना के लिए महत्वपूर्ण अथवा सार्थक लगता है । पर लिखते समय परिवेश भी वैसे का वैसा नहीं रहता जैसा उसने देखा था । मैं इसे आत्मसाक्षात्कार की स्थिति तो नहीं कहूँगा, लेखक का संवेदन और उसकी रचनात्मक क्षमता इस में सक्रिय होते हैं । वाह्य परिवेश से वह उतना ही लेता है जितना और जिस रूप में वह उसकी रचना के लिए आवश्यक है ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

लेखक के भीतर जो उठ-उभर रहा है, उसे पकने देना एक बात है और उस पर सोचना-विचारना दूसरी बात । सोच-विचार ठण्डे मन के होते हैं, जबकि लेखन ठण्डे मन से नहीं होता । लेखन भावनात्मक स्तर पर और कभी कभी विचार के स्तर पर भी गहरे में जुड़कर होता है । कोई घटना या पात्र या कोई वाक्यांश लिखनेवाले को कहीं छू जाता है और वह अन्दर ही अन्दर बेचैन करने लगता है, भूलता नहीं, बार-बार एक चुभन की तरह मन में उसकी खलिश बनी रहती है, लेकिन वह उसे लेकर ठण्डे मन से कहानी का ताना-बाना बुने, ऐसा नहीं होता । कहानी का ताना-बाना तो लिखते समय ही बुना जाता है और उसमें भी लेखक का कलात्मक अवचेतन अधिक सक्रिय होता है । साहित्य सृजन बौद्धिक क्रिया नहीं है, पर इस का यह मतलब भी नहीं कि कहानी विचारों से अछूती होती है । किसी रचना में निहित विचार, रचना के अभिन्न अंग के रूप में उभरता है । उसमें खपकर आता है ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

जो कुछ कौंधता है वह अक्सर क्षण विशेष में ही कौंधता है, पर कभी-कभी वह कुछ इतनी पूर्णता में कौंध जाता है कि आप को लगता है कि आपने पूरी कहानी उस में देख ली । आमतौर पर उस कहानी का कोई पहलू या केन्द्र बिन्दु नज़र आता है जो

कहानी का प्रेरक तत्व बन जाता है, पर यदि पूरी कहानी ही एक क्षण में कौंध जाए तो लेखक उसी समय रचनारत हो सकता है । इस में आकस्मिकता प्रेरक शक्ति नहीं होती, जो कुछ लेखक की आँखों के सामने कौंध गया है, वही प्रेरक शक्ति बनता है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

यह संभव है, और कई-बार ऐसा होता भी है कि बैठने से पहले ज़ेहन में कुछ और बात हो और लिखने लगो तो किसी दूसरी ओर चल पड़ो । इसमें कोई विसंगति नहीं है । अपने परिवेश में से हम कुछ उठाते हैं, लेकिन वही हमारी रचना का आधार बने अथवा मूल विषय बने यह ज़रूरी नहीं है । परन्तु जिस अवश स्थिति की आपने चर्चा की है वह अलग चीज़ है । मैं किसी का चेहरा शब्दों द्वारा आँकना चाहूँ और वैसा न आँक पाऊँ जैसा मैं चाहता हूँ या जैसे वह चेहरा मुझे नज़र आता है । (टाल्स्टाय ने अपनी एक नायिका का चेहरा, विशेष रूप से उसकी आँखों का भाव आँकने की बीस बार कोशिश की थी) तो इस प्रकार की अवश स्थिति में लेखक कई बार अपने को पाता है । जब कोई लेखक कहता है कि बात बनी नहीं तो उसका यही अभिप्राय होता है कि वह अपनी बात सही शब्दों में कह नहीं पाया, व्यक्त नहीं कर पाया ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

लिखते समय किसी बाधा का पड़ना निश्चय ही बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होता है । विशेषरूप से कवियों के लिए शब्दों में ही कविता निहित होती है । गद्य-लेखक के लिए भी प्रवाह टूटता है, विशेषरूप से मानसिकता के स्तर पर, जहाँ आप की सभी क्षमताएँ रचनारत होती हैं, संवेदन, कल्पना रूपसौष्ठव सम्बन्धी सूझ, भावनाएँ आदि आदि । सहसा ही कुछ ऐसा घट जाए कि सब टूट और बिखर जाए, यह बहुत बुरा होता है । भले ही मेज़ पर बैठा लेखक कुछ भी न लिख रहा हो मात्र अपने विचारों में खोया हो, उसकी रचना के लिए भी बाधा हानिकारक होगी । हाँ, कभी-कभी तन्मयता से लिखते हुए, बीच में कोई मेहमान आ जाए, टेलिफ़ोन की घण्टी बज उठे, या कोई काम पड़ जाए तो कुछ देर के लिए मेज़ पर से उठ जाना पड़ता है – हालाँकि ऐसे मौके पर लेखक अपने भाग्य को कोसता हुआ ही उठता है – पर बाधा के समाप्त हो जाने पर वह फिर से लिखने बैठ सकता है, और कड़ी फिर से जुड़ सकती है, विशेषरूप से जब वह अपनी रौ में, उठने के पहले बहुत कुछ लिख चुका हो, तब दिमाग़ गर्म होता है और काम को जारी रखना आसान हो जाता है, पर यदि शुरू-शुरू में ही उठना पड़े तो अक्सर बाद में मन नहीं लगता ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि रचना प्रक्रिया में अवचेतन ही अधिक सक्रिय होता है, लिखते समय हम सचेत बौद्धिक स्तर पर नहीं लिखते । अवचेतन में लिखनेवाले की अन्तर्दृष्टि अधिक सक्रिय होती है । अवचेतन में स्मृतियाँ अनुभूतियाँ, इच्छा, ललक, संस्कार सभी कुछ भरा होता है, रचना में यही मददगार होते हैं ।

लेकिन कोई भी लेखक चमत्कारी बाबा नहीं होता । वरना उसकी प्रत्येक रचना एक चमत्कार होती । ऐसा नहीं है । लेखक सैकड़ों कहानियाँ लिख सकता है पर उनमें से कुछेक कहानियाँ ही उत्कृष्ट रचनाएँ बन पाती हैं । मेहनत, प्रयास, सूझ, तन्मयता, इन सब का लेखन के क्षेत्र में भी उतना ही महत्व होता है जितना किसी अन्य क्षेत्र में । हाँ, संवेदन में विशिष्टिता हो सकती है । और उसके साथ जुड़ी कल्पनाशीलता, कलाकौशल आदि भी । बचपन में यह एक प्रवृत्ति के रूप में उभरती है और यदि इसका पोषण हो तो यह विकास पाकर अभिव्यक्ति के स्तर पर सक्षम हो सकती है । किसी हद तक हम सब में यह वृत्ति पायी जाती है । पर कुछ लोगों में यह अधिक सक्षम हो सकती है । यहाँ तक तो हम इसे एक नैसर्गिक गुण की संज्ञा भी दे सकते हैं । किसी की प्रतिभा इंजीनियरिंग के क्षेत्र में तो किसी की संगीत के क्षेत्र में खिलती है ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा-कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संशिलष्ट प्रक्रिया है जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ? कृपया अपनी रचना प्रक्रिया के संबंध में विस्तार से लिखें ।

रचना प्रक्रिया जटिल तो है ही । आप मात्र शब्दों के द्वारा एक जीवन स्थिति का निर्माण कर रहे होते हैं जिसमें प्रत्येक शब्द मात्र अपने अर्थ के बल पर ही नहीं चलता, उसमें से बिम्ब भी बनते हैं, प्रतीक भी, संकेत भी । उन्हीं के द्वारा आप चित्रण भी करते हैं और भावनाओं को भी सूक्ष्मस्तर पर जगाते हैं, आदि आदि । प्रत्येक शब्द का अपने में एक प्रबल अस्तित्व होता है । पर फिर, केवल लेखक ही शब्दों का प्रयोग नहीं करता, बच्चे से लेकर बूढ़े तक हर इन्सान शब्दों के द्वारा ही अपनी बात कहता और समझाता है । हाँ, कुछेक विलक्षण लेखक शब्दों का प्रयोग अद्‌भुत कौशल से कर जाते है । उनका दृष्टिक्षेत्र विशाल होता है । वे अधिक संवेदनशील और प्रतिभासम्पन्न होते हैं, उनकी साहित्यिक देन निश्चय ही विलक्षण होती है ।

लिखते समय भले ही लेखक को अनेक जटिल स्थितियों में से गुज़रना पड़े, पर रचना तैयार हो जाने पर वह एक संश्लिष्ट रचना का रूप ले लेती है । ●

लक्ष्मीकान्त वर्मा

जन्म : 15.02.1922

निधन : 2002

प्रकाशित कृतियाँ :
कविता संग्रह 5
कहानी संग्रह 3
उपन्यास 7
आलोचना 3
नाटक 4
जीवनी 3
तीन खंडों में रचनावली

सम्मान :
भुवनेश्वर सम्मान
डॉ. लोहिया सम्मान
हिन्दुस्तानी एकेडेमी सम्मान
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान सम्मान

उनका पहला कविता संग्रह
धुएँ की लकीरें (1954) में छपा
और उनकी आलोचना पुस्तक
नयी कविता के प्रतिमान बेहद चर्चित हुई ।

वे गाँधीजी को आने वाले युग का महापुरुष मानते थे, आईन्स्टीन को प्रकृति के रहस्यों का ज्ञाता, स्वामी रामकृष्णदेव को युग का आध्यात्मिक, श्री सच्चा बाबा को परिवर्तन का वाहक मानते थे । उनके इष्टदेव श्री हनुमानजी थे । उनका जीवन मूल्य था –

सोई अनन्य जाके मत न टरै हनुमंत ।
मैं सेवक, सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ।।

अपने बारे में कुछ कहना
मुझे एक झूठा नाटक लगता है
-लक्ष्मीकांत वर्मा

बहुत दिन पहले श्रद्धेय लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने एक पत्र में मुझे लिखा था *'आजकल साहित्य के क्षेत्र में कोई नई चीज़ नहीं आ रही है । पत्रिकाओं को भी पढ़ने में मज़ा नहीं आ रहा है । तुम लोगों का ग्रुप अच्छा है । पता नहीं तुम लोग निरन्तर मिलते रहते हो या नहीं । तुम सबको मिलकर एक पत्रिका निकालनी चाहिए ।'* यह सुखद स्मृति एक

कविमन के पत्र की ही मानो आज काव्यम् पत्रिका को उनका बहुमूल्य सहयोग है । जब भी उनसे उनके बारे में जानने की मेरी चेष्टा हुई, उनका संक्षिप्त उत्तर होता था – *'दरअसल मैं प्रश्न-उत्तर देने का आदी नहीं हूँ । यह मेरे संस्कार में नहीं बैठता । उच्च चिन्तन में विश्वास तो करता हूँ पर अपने बारे में कुछ कहना मुझे एक झूठा नाटक लगता है क्योंकि अपने गुण-दोष के बारे में लिखना और उसमें ईमानदारी बर्तना मुझे कठिन साध्य लगता रहा है ।'* क्या वह भी प्रसाद जी की तरह अपने विषय में बातचीत करने के पक्षधर नहीं थे ?

छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) के कलकत्ता में आयोजित (49वाँ) अधिवेशन (1989) में मेरी उनसे अन्तिम मुलाक़ात थी । तीन दिन वे मेरे घर पर ही ठहरे थे । साहित्यिक चर्चा करते हुए बारम्बार एक वाक्य पर ज़ोर देते कि सृजन हमेशा समय के साक्ष्य से ही पूरा होता है । जीवन मूल्यों और सृजनमूल्यों की निरन्तरता साहित्य के माध्यम से ही संभव है ।

नई कविता का अथक यात्री बीसवीं शताब्दी के अवसान और नयी शताब्दी की दस्तक पर यह समझता था कि *शब्दों का दुरुपयोग और अपव्यय जितना इस शताब्दी में हुआ है उतना शायद कभी नहीं हुआ । यह समय की विडम्बना है कि सृजनप्रक्रिया ही क्षणभंगुर है क्योंकि वह सूचनात्मकता में अधिक विश्वास करनेवाली है । 'हर समय का एक सच होता है किन्तु सृजन स्तर पर वह सच कितने काम का है इसका निर्णय करनेवाला सर्जक साहित्यकार ही हो सकता है । विचारों और भावों को भावित करने वाली सर्जक की लेखनी होती है । यह लेखनी जितनी स्वतन्त्र और स्वयम्निष्ठ होगी, उतनी प्रभुतासम्पन्न व उर्वर होगी । लेखक केवल समय के सच का दस्तावेज़ नहीं तैयार करता । वह मानव नियति और इच्छाशक्ति के बीच उन रागात्मक सूत्रों का सर्जक होता है, जो जीवन को जीने लायक बनाते हैं ।'*

रचना-प्रक्रिया संबंधी प्रश्नावली का उत्तर देने में वे बिल्कुल प्रस्तुत नहीं थे किन्तु अपनी मुँहबोली बिटिया के आग्रह को टालना उन्हें गवारा नहीं था । पत्रों का एक लम्बा सिलसिला अन्ततः सारे प्रश्नों के उत्तर में मिला मुझे । खीझ व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा – *'यह शायद पहली प्रश्नावली होगी जिसपर लिखित उत्तर सिर्फ़ तुम्हें मिलेगा । मैंने कभी प्रश्नों में उत्तर से हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा । रचना करने के बाद रचनाकार को अलग होना चाहिए । लेखक को चाहिए कि विनम्र भाव से उनके निर्णयों को स्वीकार करे । मैंने तुम्हारी इच्छा पूरी कर दी है ।'*

प्रस्तुत है रचना – प्रक्रिया संबंधी उनके विचार – ●

रचना जब्त की अभिव्यक्ति है
जुनून की चीख़ नहीं

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

"वस्तुतः" कुछ लिखना है इसकी अनुभूति उसी को होगी जिसे अपने सुख-दुख की अद्वितीयता की पहचान होगी । अभिव्यक्ति अन्याय के विरुद्ध, अभिव्यक्ति विषमता के विरुद्ध तो होती ही रहती है । कभी-कभी अपने को पाने के लिये, अपने को पहचानने के लिए भी लिखना एक सृजनशील व्यक्तित्व की मजबूरी भी होती है । पहली अनुभूति रामचरितमानस को पढ़कर हुई । लिखा (1935-36) में जब कहीं किसी ने लिख भेजने की ज़िद की । आज न वह रचना ही मेरे पास है और न वह व्यक्ति इसलिए इतना ही काफ़ी है कि 1935-36 में अनुभूति भी हुई और लिखा भी ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय ? आपने क्या महसूस किया ?

रचना शुरू होने पर मैं अपने को संतुष्ट (Fulfilled) महसूस करता हूँ । रिलैक्स में तनाव है, रचना तनाव से नहीं पैदा होती । वह 'विज़न' (Vision) से उपजती है । मैंने हमेशा Vision के उल्लास में लिखा है । कभी-कभी Vision निष्कृति न प्रदान कर और अधिक पीड़ादयक लगता है पर होता नहीं ।

परिवेश और रचना के अंतः संबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

सृजन के क्षण में तो मैं भी वह नहीं रहता जो मैं हूँ । वह क्षण अजीब होता है । उसमें सब कुछ भी होता है परिवेश, वर्तमान, अतीत, भविष्य तभी रचना बनती है । परिवेश उतना ही सार्थक है जितना उस क्षण अनुभूति के साथ आता है । जो अनुभूति देशकाल से जुड़कर नहीं आती वह निरर्थक है क्योंकि वह तब केवल विषय होता है अनुभूति नहीं । जैसे प्रेम विषय भी होता है और अनुभूत सत्य भी । विषय पर लिखना रियाज़ है । विषय को जीकर लिखना सृजन है । ऐसे ही सृजन को हम आत्मसाक्षात्कार भी कह सकते हैं ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

प्रत्येक स्फुरण सृजन नहीं होता जैसे प्रत्येक अनुभूति सृजन के लिए प्रेरित करने वाली नहीं होती । वर्डस्वर्थ इसीलिए यह मानता है कि प्रत्येक सृजन Thoughts recollected in Tranquility है । जो रचना समस्या पूर्ति या स्फुरण प्रधान होती है वह सृजन से वंचित 'आकार भ्रम' होती है । रचना तो जब चिन्तन मनन के आधार पर तपती सी आती है तभी अभिव्यक्ति के लिए विवश करती है । यह विवशता है, सृजन की पीड़ा है, वेदना है, उत्सव है, उल्लास है जो रचे हुए शब्दों, रंगों, मुद्राओं, आलापों और स्वरों में व्यक्त होती है । Spontanity का मतलब मशीनी निर्जीवता नहीं होता ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

इसका उत्तर पूर्व में दिए गए उत्तर में ही समझा जा सकता है । यहाँ सिर्फ़ इतना कहना चाहता हूँ कि आत्ममंथन और आत्मसंयम दोनों में मात्रा भेद है । रचना जब्त की अभिव्यक्ति है जुनून की चीख़ नहीं ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

इस स्थिति से तो प्रायः हर रचनाकार गुज़रता है लेकिन यह शुभ लक्षण नहीं है । अच्छा लेखक अपनी पहचान अपनी अद्वितीय अनुभूति से बनाता है, दैनन्दिन या सामान्य अनुभव से नहीं । रचनाकार की अनिर्वचनीय स्थिति तो होती है पर शब्द अभाव अपरिपक्वता की निशानी है । शब्द अभाव का अर्थ है कि स्थिति केवल शब्द चित्र तक सीमित है, साक्षात्कार की स्थिति तक नहीं पहुँच पाई है ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

शब्द स्खलन का अनुभव मुझे नहीं है । क्षण-क्षण बदलते सौंदर्य की आभा में यह स्थिति संभव हो सकती है पर इसे स्खलन न कह भाषा की अनुभूति की गति के साथ प्रवहमान न होने की तो मैं कल्पना कर सकता हूँ पर इसे शब्द-स्खलन नहीं मानता । अनुभूति और भाषा की लयबद्धता का अभाव ही भावना का स्खलन भी होगा । तन्मयता शुभलक्षण नहीं है आत्मपरक वस्तुपरकता तो होनी ही चाहिए । इसी को ऐस्थेटिक डिस्टेन्स भी कहते हैं ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

अवचेतन रचना क्रम को भी प्रभावित कर सकता है किन्तु अब तो कविता के ढाँचे के साथ ही अनुभूति आती है । अवचेतन फ्रायडियन अवधारणा है । एडलर और जुंग का "शैडो काम्पलेक्स" 'चेतन', 'अवचेतन', 'अर्द्धचेतन' की अभिव्यक्ति रचना नहीं होती । वह केवल अनुभूति और शब्द के साथ आती है उसमें लय, गति, छन्द सब एक से एक बँधे हुए आते हैं ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा-कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संशिलष्ट प्रक्रिया है जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ? कृपया अपनी रचना प्रक्रिया के संबंध में विस्तार से लिखें ।

वस्तुतः यह अनावश्यक जटिलता कोई अर्थ नहीं रखती । रचना प्रक्रिया किसी रचनाकार की स्थिति हो सकती है, रचना की मज़बूरी नहीं । जो प्रवहमान है उसकी प्रक्रिया नहीं होती । उसकी गति ही उसे संश्लिष्ट बनाती है । यदि वैज्ञानिक का अर्थ वस्तुपरक है तब ठीक है । यदि वैज्ञानिक का अर्थ To Murder to Disect है तो वह रचना के साथ अन्याय है । विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है । बुद्धिमानों के लिए इशारा काफ़ी है । इसपर रोमांटिक आलोचकों से लेकर **मैथ्यू ऑर्नाल्ड** तक ने काफ़ी लिखा है । यदि मुझसे आप मेरी रचना प्रक्रिया जानना चाहती हैं तो वह आर्ष से प्रारम्भ होकर मनन के माध्यम से रूपायित होती है । मैं प्रक्रिया के क्रम में विश्वास नहीं करता । अनुभव, अनुभूति, प्रवाह और अभिव्यक्ति में विश्वास करता हूँ । आलोचना या समीक्षा किसी घटना की तफ़तीश नहीं है । इसीलिए उसके होने से अवगत होना है । ●

डॉ. रामदरश मिश्र

जन्म : 15.08.1924
डुमरी, गोरखपुर (उ. प्र.)

प्रकाशित कृतियाँ :
कविता
पद के गीत (1951)
बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ (1962)
पक गयी है धूप (1969)
कंधे पर सूरज (1977)
दिन एक नदी बन गया (1984)
मेरे प्रिय गीत (1985)
बाज़ार को निकले हैं लोग (1986)
जुलूस कहाँ जा रहा है (1989)
रामदरश मिश्र की प्रतिनिधि
कविताएँ (1990)
आग कुछ बोलती नहीं (1992)
शब्द सेतु (1994)
बारिश में भीगते बच्चे (1996)
हँसी ओंठ पर आँखें नम हैं (1997)
ऐसे में जब कभी (1999)

उपन्यास 11 कहानी संग्रह 15
समीक्षा 12 ललितनिबंध 2
यात्रा वर्णन 3 आत्मकथा 2
संस्करण 2 चुनी हुई रचनाएँ 1
सम्पादित 5 अँग्रेज़ी में 3
रामदरश मिश्र रचनावली (2000)

सम्मान :
साहित्यकार सम्मान
हिन्दी अकादमी, दिल्ली (1984)
साहित्य भूषण
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (1996)
दयावती मोदी कवि शेखर सम्मान (1998)
साहित्य वाचस्पति
हिन्दी साहित्य सम्मेलन (2001)

मैं टूटा नहीं हूँ

पाँच छः महीने पूर्व **डॉ. रामदरश मिश्र** को रचना-प्रक्रिया संबंधित एक प्रश्नावली मैंने भेजी थी किन्तु पत्र का जवाब नहीं मिला । पुनः एक स्मरणपत्र लिखा तब भी चुप्पी । मुझे समझ में नहीं आया कि इस चुप्पी का मतलब क्या समझूँ कि रचनाकार रचना-प्रक्रिया के बा्रे में कुछ कहना नहीं चाहता । उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं है और कभी सभा-समारोह में भेंट करने का अवसर मिला हो, ऐसा भी नहीं । किन्तु इसके अलावा भी एक परिचय होता है रचना और पाठक का जिसके कारण एक सिलसिला वर्षों से जुड़ा रहा और आज साकार हुआ । **काव्यम्** में छपी मेरी कविताओं को पढ़कर उन्होंने मेरी

कविताओं पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की और एक संक्षिप्त पत्र लिखा – 'साक्षात्कार भेज रहा हूँ । कृपया प्राप्ति की सूचना दें । हाथ का लिखा हुआ भेज रहा हूँ । मेरे अक्षर बहुत विकट होते हैं । अतः सावधानीपूर्वक इसे छापा जाय ।'

कवि की सहज आत्मीयता की नदी काव्यम् के ज़रिए ही मुझ तक आई है । कवि कर्म संबंधी कुछ ऐसे पक्ष जो रचनाकार के लिए बंहुत महत्व रखते हैं जिनके बारे में बतलाना कवि के लिए अनिवार्य हो जाता है क्योंकि– 'जहाँ कलाकार के लिए रचना-प्रक्रिया पर बल देना आवश्यक हो गया है वहाँ वह अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कोई प्रामाणिक बात नहीं कह सकता ।' आत्मसंघर्ष के क्षणों को, अनुभव को उसकी रचना में स्पष्ट देखा और समझा जा सकता है ।

मेरा यह घिरा सुनसान कमरा है/जहाँ मैं हूँ सहज/हर रात मैं हूँ/कटा बाहर की धारा से किन्तु यह स्थिति कवि की/'समूची जिन्दगी' नहीं/हर दिवस है तोड़ देता/ज्योतिधारा से अकेलापन/....और अकेलेपन का दर्द इतना/वैयक्तिक है कि उसे दूसरा क्यों भोगे/मेरा अकेलापन/यहाँ का दर्द मेरा है ।

यह कवि का 'मैं' और 'अकेलेपन का दर्द' और 'दूसरा क्यों भोगे 'दर्द मेरा है' तब भी आत्मविश्वास कहता है 'मैं टूटा नहीं हूँ, बिखरा नहीं, मिट-सिमटकर बनता गया हूँ, गिर-गिरकर उठता गया हूँ, भटक-भटक पर रास्ते पर आ गया हूँ (सहचर है समय) क्योंकि मेरे कन्धे पर सूरज है और 'ढला हुआ सूरज' भी 'सैकड़ों' सूरज बन उग रहा है हमारी धमनियों में ।'

सचमुच रामदरशजी की रचना-यात्रा एक मुक्त परिवेश की रचना-यात्रा है जिसके बारे में वे स्वयं लिखते हैं "यह सत्य है कि अनुभवों की रचना में विचार और दृष्टि की बड़ी हिस्सेदारी होती है किन्तु साहित्य रचना के मूल में प्रमुख भूमिका अनुभव की होती है । दृष्टि या विचार इन अनुभवों को पुनर्निर्मित करते हैं और पूरी रचना को भी एक अन्विति देते हैं किन्तु रचना के मूल में आधारभूत शक्ति अनुभव की है ।" कवि का यह अनुभव एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करता है जो यह बताता है अपने रचना संसार के माध्यम से मनुष्य की यात्रा पराजय स्वीकार करनेवाली नहीं है । वह अपराजेय है ।

'कितना बड़ा दर्द है/भीतर से एक महाभारत गुज़रा हो/और कुछ न कहा जाए चारों ओर शोर मच रहा हो/और अपनी जय के समय भी मौन रहा जाए ।' तभी कवि ही यह कह सकता है—

हमेशा आकाश से झरती है एक नदी
और हमेशा ऊपर ही ऊपर कोई पी लेता है
धरती प्यासी की प्यासी रहती है
और कहने को आकाश से नदी बहती है ।●

आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में भी परिवेश अलग नहीं होता

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

लिखने की अनुभूति स्वतः ही बचपन में (जब मैं प्राइमरी स्कूल का छात्र था) होती रही। लोक गीतों को सुन-सुनकर पाठ्य पुस्तकों की कविताएँ पढ़-पढ़ कर कुछ वैसा ही लिखने का मन होता रहा किन्तु कोशिश करने पर भी कुछ बन नहीं पाता था। मैं कविता के प्रति मौन हो गया किन्तु वह मेरे भीतर कहीं मुखर रही। मैं दर्जा छः में पहुँच गया। एक दिन मेरे एक सहपाठी ने कहा कि उसके गाँव का एक लड़का कविता लिखता है। मुझे जोश आ गया। बोल पड़ा – मैं भी लिख सक़ता हूँ। उस दिन स्कूल के पास के बागीचे में कांग्रेस की सभा थी मैंने उसी पर कविता लिखनी शुरू की और लिख गया। तब से कविता लिखने का क्रम आरंभ हो गया।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

लिखते समय एक रचनात्मक बेचैनी अनुभव होती रहती है। विषय को कैसे अन्तर्वस्तु बनाया जाए, उस अंतर्वस्तु का क्या स्वरूप हो उसके लिए कैसे शब्दों का चुनाव किया जाए, किस संदर्भ में किस शैली का प्रयोग किया जाए ये अनेक चिन्ताएँ रचना-क्रम में घेरे रहती है। यदि रचना लम्बी है यानी प्रबंध काव्य है, उपन्यास है नाटक है तो चिन्ता का क्रम न जाने कितने दिनों तक चलता है। मैं उपन्यास लिखता हूँ तो अगले अध्याय की रचना की चिन्ता नींद में भी दस्तक देती रहती है। इसलिए कोई भी रचना पूरी होने पर

बड़ी आश्वस्ति मिलती है और बड़ी रचना की पूर्णता की आश्वस्ति तो बड़ी ही गहरी होती है।

परिवेश और रचना के अंतः संबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में भी परिवेश अलग नहीं होता । आखिर आत्म बना तो परिवेश मे ही है, परिवेश से ही है । जिस आत्म के साथ परिवेश का सम्बन्ध नहीं होता उसकी अभिव्यक्ति से पाठक को क्या मिलता है ? दर्शन भले ही आत्म को जल कमलवत मानता हो किन्तु साहित्यकार जिस आत्म की बात करता है वह तो परिवेश में व्याप्त होता है और परिवेश उसमें व्याप्त होता है और आत्मसाक्षात्कार की स्थिति तो उन्हीं रचनाओं में होती है जो व्यक्ति व्यंजक होती हैं । कथा-साहित्य में, नाटकों में, प्रबंध काव्यों में अपने समय और समाज की संश्लिष्ट और सघन पहचान उभारनी पड़ती है । मैं अपने उपन्यासों में आनेवाले पात्रों की स्थितियों मनःस्थितियों, चारित्रिक वैशिष्ट्य, सम्बन्धों समस्याओं आदि को पहचानने तथा रूपायित करने का प्रयत्न करता हूँ । हाँ मेरी अपनी दृष्टि यथार्थ की पहचान तथा उसकी पुनर्रचना में सावधान रहती है और पूरी माला को कैसे एक अन्विति प्राप्त हो इसके लिए सजग रहती है ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

देखा-सुना, अनुभव किया हुआ यथार्थ एकाएक रचना में नहीं उतरता । कई बार मेरे भीतर कोई वस्तु या बात कौंधती है तो अहसास हो जाता है कि वह रचना की माँग कर रही है और मैं उसे छोड़ देता हूँ । वह धीरे-धीरे मेरे अनजाने ही मेरे भीतर पकती रहती है । काफी दिनों बाद भी जब लगता है कि वह कौंध बुझी नहीं है तब उसे रचना में उतारने के लिए अपने को तैयार कर लेता हूँ । अनुभव और रचना में समय की एक दूरी आवश्यक होती है । यह दूरी अनुभव के फालतू अंशों को काट छाँट देती है और उतना ही ग्रहण करती है जितना सारवान होता है । लम्बी रचनाओं प्रबंध काव्यों, उपन्यासों नाटकों में तो एक बड़ी और संश्लिष्ट दुनिया उतरती है । उसे उतारने के लिए अनुभवों और विचारों की बड़ी तैयारी करनी पड़ती है । पग-पग पर सोचने-विचारने, ठहरने, काटने-पीटने की आवश्यकता होती है । यहाँ आकस्मिक या तात्कालिक जैसी कोई चीज़ नहीं होती ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

मैं जो कहना चाहता हूँ उसके लिए शब्द मिल ही जाते हैं । किन्तु कहना क्या चाहता हूँ यह लेखन से पहले पूरा स्पष्ट नहीं होता । लिखने के क्रम में रचना का रूप बनता चलता है । मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो लिखने से पहले अपने कथ्य का पूरा खाका तैयार कर

लेते हैं । चाहे छोटी कविताएँ हों चाहे बड़े उपन्यास मैं लिखने के क्रम में ही अपने कथ्य का सही स्वरूप जान पाता हूँ । वैसे मोटे तौर पर उसका आभास लेकर शुरू करता हूँ और सहज भाव से जो रूप बनता जाता है बनने देता हूँ । कविता में तो कुछ विशेष शब्द कुछ प्रतीक, कुछ बिम्ब ऐसे आ जाते हैं जो उसमें वह ध्वनि भर देते हैं जिसकी पहले से कल्पना नहीं होती । मेरे उपन्यासों में भी लिखने के क्रम में कुछ ऐसे प्रसंग या दृश्य आ जाते हैं जिनकी पहले कल्पना नहीं की गयी होती है और वे आकर उपनयास के केन्द्रीय अभिप्राय की निर्मिति में अहम भूमिका निभाने लगते हैं ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

अचेतन में बहुत सी बातें दबी होती हैं जो सामाजिक रूप से प्रकाश्य नहीं होतीं । हमारा चेतन अपने विवेक और मूल्य दृष्टि से उस पर नियंत्रण करता रहता है किन्तु हो सकता है कि पात्रों की चरित्र-रचना में या प्रतीकों और बिम्बों की निर्मिति में लेखक के अचेतन में छिपा अप्रकाश तत्त्व धीरे से घुस आए यानी कि सीधे नहीं बहाने से घुस आए । मेरे साथ भी ऐसा होता ही होगा । वैसे तो अचेतन के ही तमाम संवेग छन-छन कर चेतन में आते हैं और रचना की शक्ति बनते हैं । इसलिए रचना में अचेतन और चेतन का आत्यंतिक अलगाव नहीं किया जा सकता ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

रचना सचमुच एक जटिल प्रक्रिया है । ऊपरी तौर पर दिखाई पड़ने वाली रचना-प्रक्रिया को तो आसानी से बताया जा सकता है किन्तु भीतरी स्तर पर चलने वाली रचना-प्रक्रिया इतनी जटिल होती है कि उसे ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता । लिखते-लिखते एक लेखक के लिए लिखना इतना सहज हो जाता है कि वह स्वयं नहीं जानता कि कैसे क्या हो रहा है । जो चीज़ जितनी सहज और संश्लिष्ट होती है उसकी व्याख्या उतनी ही कठिन होती है । मैं अपनी बात कहूँ – मैं न जाने किन-किन प्रेरणाओं से लिखता हूँ । कौन-कौन से अनुभव, कौन-कौन से पात्र, कौन-कौन सी घटनाएँ, कौन-कौन से प्रसंग कब मेरे भीतर आ जाते हैं और एक दूसरे में घुलते मिलते हुए रचना में उतरते रहते हैं मुझे पता नहीं चलता । यदि इन्हें अलग-अलग कर देखने का प्रयत्न करूँगा तो बिखर जाएँगे । हाँ रचना प्रक्रिया के बाहरी स्वरूप पर बात करना आसान है । मैं सर्जनात्मक लेखन सुबह यानी नाश्ते के बाद करता हूँ । मैं रुक-रुक, थोड़ा-थोड़ा लिखता हूँ । मैं अपने कमरे में ही निश्चित जगह बैठकर लिखता हूँ । मेरे कमरे में कुछ एकांत होना चाहिए किन्तु बाहर दुनिया चलती रहनी चाहिए । रात के सन्नाटे में मैं नहीं लिख सकता । पहला ड्राफ्ट रफ़ काग़ज़ पर लिखता हूँ । क़लम ऐसी हो जो आसानी से चलती हो । ●

छविनाथ मिश्र

जन्म :

पौष शुक्ल सप्तमी सम्वत् 1985
तदनुसार 06.01.1927
ऊँचडीह, इलाहाबाद (उ.प्र.)

प्रकाशित कृतियाँ :

कविता

अँगना फूले कचनार (1962)
समय दंश (1971)
ऋचागीत (वैदिक ऋचाओं का
गीतान्तरण) (1986)
टुकड़ों में बँटा आकाश (1986)
कविता में जीने का सुख (1987)
क़लम का दर्द (1993)
ऋतुरंग (1995)
सुनो कविता मेरा नाम ईश्वर है (1995)

सम्पादन :

काव्याञ्जलि (1986)

सम्मान :

मदनमोहन अग्रवाल स्मृति सम्मान
पूनमचंद भूतोड़िया पुरस्कार
विवेक संस्थान पुरस्कार
प्रेमचंद पुरस्कार
वरिष्ठ साहित्यकार सम्मान
योगिराज श्यामाचरण
सनातन मिशन सम्मान (अनुवाद)

कविता ईश्वर से भी बड़ी होती है

काव्य-यात्रा का इतिहास गवाह है कि कविता की ऐतिहासिक विकास-यात्रा में श्रेष्ठ कवि-कर्म का मूल्यांकन हमेशा हुआ है, भले ही कुछ कवि किसी कारण-वश चर्चा के केन्द्र में न आ पाएँ हों । काल की दृष्टि से चींटी भी नहीं बचती। फिर कविता तो **प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः** नए से नए उत्कृष्टतर जीवन की ओर बढ़ने की प्रेरणा, नया कुछ गढ़ने की दृष्टि से संचालित होती है ।

कोलकाता महानगर में **दादा** कहने मात्र से कवि **छविनाथ मिश्र** का स्मरण हो आता है । दादा स्वभाव से संत, कंधे पर किताबों भरा झोला लटकाए, आज अस्सी वर्ष की उम्र में भी नौजवानों से अधिक फुर्ती-चुस्ती, आनन्दमयी मुस्कान बिखेरते आत्मीय स्पर्श की छुअन देते मिल जाते हैं ।

छविनाथजी की रचनाओं ने हिन्दी कविता को विविध स्तरों पर समृद्ध किया है । रोमांटिक चेतना से जुड़कर, नवगीत एवं ऋचाओं का गीतात्मक सृजन कवि **छविनाथ मिश्र** के लिए

ही संभव था । **सुनो कविता मेरा नाम ईश्वर है** जैसी पंक्ति एक साधारण कवि नहीं कह सकता । एक साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति की असाधारण ज्योति-यात्रा से ही ऐसी पंक्तियाँ निःसृत होती हैं ।

कवि जानता है कि रोटी का सवाल हल करने के लिए कविता में सोचते हुए, हर रोज़ दफ़्तर तक पहुँचने का रास्ता तय करना कितना ख़तरनाक है । यह ख़तरा भयावह तब होता है जब कविता की ग़ैरमौजूदगी में ज़िन्दगी या क़ीमती चीज़ें कौड़ी के मोल बिक जाती हैं और सोचने के सिलसिले में पान की दुकान पर नया छाता छूट जाता है, कभी आख़िरी ट्रेन चीख़ती हुई भाग जाती है क्योंकि वह एकमात्र कविता में जीता है । जब कविता उसके भीतर उतरने लगती है, वह आकाश होने लगता है । कविता कवि के समय और इतिहास की चेतना है, बोध और विवेक की संस्कृति है ।

कविता में जीने का सुख और उसकी खुश्बू दोनों कवि के हिस्से के आकाश और ज़मीन से जुड़े हैं इसलिए कविता कवि के लिए न तो अर्थ का पर्याय बनी, न केवल वाग्विलास । कविता **छविनाथ मिश्र** का अस्तित्व है, उनके अपने होने की सार्थकता है, लेकिन जीवन के विविध प्रसंगों में यह सुखानुभूति कविता की तलाश भर है जिसे उन्होंने जिया है । इसलिए कविता **छविनाथजी** को ईश्वर से बड़ी परिलक्षित होती है ।

कविता में जीना और चेतना की बारीक़ बुनावटों के बीच जीना कवि की काव्य-यात्रा का लक्ष्य है । कवि स्वयं नहीं जानता कि कविता कब उससे जुड़ी! इसका उत्तर तलाश करते हुए उसके पास कोई प्रमाण भी नहीं है, न कोई गवाह है । अपनी वाङ्मय नीरवता के केन्द्र में एक अनाहत लय की तरह वह कविता को महसूस करता है । कविता के स्पर्श की अनुभूति जब शिराओं में थिरकने लगती है, कविता के ताप के दबाव से कवि अदृश्य आग का छन्द बन जाता है । कविता की ईश्वरतमा प्रकृति कवि के प्राणों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की तरह फड़कने लगती है । तभी तो वह कह सका —

कविता न तो बंदूक है
और न मशीनगन है
लेकिन तिलमिलाती है
तो अँधेरे के आततायी आदमख़ोर
मुखौटों को भून देती है
मेरे दोस्त, मेरे हमदम!
तुम्हारी क़सम
कविता जब किसी के पक्ष में
या किसी के खिलाफ़
अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है
तब वह ईश्वर से भी बड़ी होती है । ●

कविता मेरे लिए एक घटना है, उपस्थिति है साथ ही एक अन्तहीन तलाश है

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

विभिन्न क्षेत्रों में रचना-कर्म से जुड़े लोगों के लिए इस प्रश्न का उत्तर देना एक जटिल प्रक्रिया है । किसी व्यक्ति के जीवन में कुछ लिखने की घटना कब, क्यों, कहाँ, कैसे घटती है, उसका स्रोत क्या है अथवा प्रेरणा एवं प्रभाव का प्रस्थान विन्दु क्या है ? ऐसे प्रश्नों का एक लम्बा सिलसिला खड़ा करना मनौवैज्ञानिकों और काव्य-शास्त्रियों के बौद्धिक चिन्तन के आयाम-व्यायाम का परिणाम है । इसी सोच-समझ की रोशनी में कुछ लिखने, रचने, सिरजने की ललक-झलक, अनुभूति और अकुलाहट जो भी हो, वह अचेतन, अवचेतन एवं चेतन तक के अन्तर्मौन को भाषा देने की एक रहस्य-यात्रा है । जिसके बारे में मुझे सिर्फ़ इतना पता है कि विद्यार्थी जीवन से ही कुछ सुपरिचित, सुख्यात कवियों की कविताओं को पढ़ने-समझने, सुनने-सुनाने का सुयोग-सुअवसर प्राप्त होता रहा है । कवि होने, बनने के एक अजीब क़िस्म के पागलपन के चलते शुरू में उनके ही तौर-तरीक़ों और काव्य-शैली का इस्तेमाल करते हुए दोहा-चौपाई, सवैया, घनाक्षरी, फाग-चौताल, कजली-सोहर आदि लिखने का अभ्यास करते-करते 1944 से गीत-विधा और नई कविता की मुख्यधारा से जुड़कर कविता के कई-कई तथाकथित आन्दोलनों के बीच से गुज़रकर अपनी काव्य-

यात्रा अब तक जारी रखने की चेष्टा करता आ रहा हूँ— विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

कुछ लिखने, रचने के पहले तनाव की स्थिति स्वाभाविक है । आत्म-मंथन की भूमिका में भीतर के एक गहरे सन्नाटे को तोड़ने के तनाव से उबरने की चेष्टा में जब रचना पूरी हो जाती है तब रचनाकार को आत्म-सन्तोष अथवा विश्रान्ति का जो अनुभव होता है, उसे रचना के क्षणों के साक्ष्य में अपनी कविता की कुछ प्रारम्भिक पंक्तियों के माध्यम से परिभाषित करने की कोशिश कुछ इस प्रकार है — **मेरे आँगन में अनार का एक गाछ है/ रचना के लहकते क्षणों के भीतर से गुज़रता है/उगते सूरज के रंग में नहाकर फूल-फूल हो जाता है/और तब/उसकी टहनियों पर/लिखी जा चुकी होती है/पंखुड़ियों के खुल जाने की अन्तर्यात्रा.... न जाने कब छू जाती है/कोई अनाहत किरण/और/रविशंकर के सितार की तरह बजने लगता है अनारगाछ ।**

यहाँ कविता की अन्तहीन तलाश में उससे सीधे संवाद की स्थिति में मेरा होना, महज़ एक घटना, एक अदृश्य उत्प्रेरक की उपस्थिति है और टहनियों पर पंखुड़ियों के खुल जाने की अन्तर्यात्रा का लिखा जाना, उसे अनाहत लय की तरह महसूस करना, एक ऐसा सच है, जो मेरे होने जैसा ही सच है । इस तरह घर से दफ़्तर तक कविता में सोचते हुए, खुद को भाषा के छांदस माधुर्य के भीतर से निचोड़ते हुए कविता के प्रति समर्पित रहा हूँ । 'कवयः सत्यश्रुतः' की आर्षदृष्टि में कविता ही एक ऐसा लिखा-अनलिखा सत्य है जो आज के ख़तरनाक समय और प्रदूषित परिवेश में रचने-बचने का एकमात्र साधन-सम्बल है । इसी सनातन सच की जब भी कोई अनाहत किरण मेरे शब्दों, बिम्बों और प्रतीकों को छू जाती है तब कविता मेरे भीतर उतरने लगती है और मैं आकाश होने लगता हूँ, फिर जब वह क़लम की नोक से काग़ज़ पर उतरती है तब मैं रविशंकर के सितार की तरह बजता हुआ अनार गाछ हो जाता हूँ ।

परिवेश और रचना के अंतःसंबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

हमारे इर्द-गिर्द जो भी है — आसमान, हवा, आग, पानी, मिट्‌टी, प्राकृतिक सौन्दर्य, नदी, पहाड़, झरने, जंगल, खेत-खलिहान, मैदान-सीवान गाँव-नगर इन सब की समग्रता में ही तो परिवेश की पहचान हो सकती है । तो फिर हमारा समस्त रचना-कर्म किसी न किसी रूप में इनसे अपना अन्तर्याम सम्बन्ध बनाए रखता है । रचना-प्रक्रिया में परिवेश का अन्तःसम्बन्ध या यह कहें कि भौतिक शक्तियों की सह-सम्बद्धता एक प्रेरक तत्व के रूप में अनायास सहयोगी की भूमिका का निर्वाह करते हैं । ज़ाहिर है कि अगर कुछ रचना-

सिरजना है तो भीतर गहरे पैठना ज़रूरी है । रचते समय आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में ही साहित्य की किसी भी विधा को रूपायित करने की सार्थकता सम्भव है ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

मान्लो, मुझे कुछ लिखना है, वह चाहे गीत हो या नई कविता या व्यंग्य-विद्रूप हो तो उसके पहले सोचने-विचारने की प्रक्रिया मानसिकता के कई स्तरों पर भाषा, भाव, अर्थ-लय और विम्ब-प्रतीक की सहज सुषम आँच में सिझाती-पकाती है । बिना पके रस कहाँ ? काग़ज़ पर उतरे शब्दों के भीतर से ही हम रचनाकार की रचनात्मक क्षमता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

सही अर्थों में एक रचनाकार के लिए जब-तब रचना-रत होने की कोई सम्भावना नहीं है अगर हो भी तो वह उसकी रचनाधर्मिता का एक नाटकीय तमाशा होगा जिसे ज़बरदस्ती, प्रस्तुत करने की बचकाना कोशिश की गई है । अकस्मात् आपके मन में कुछ, उभरा, और लिखने बैठ गए, ऐसा कम होता है, प्रसंग चाहे गीत लिखने का हो या कविता-कहानी, लेख लिखने का हो उसके लिए समय के साथ एकाग्रता ज़रूरी है । किसी रचना का 'ब्लू प्रिन्ट' अथवा रूपरेखा या ख़ाका तैयार किए बिना या फिर किसी काँट-छाँट, तराश ख़राश के बग़ैर कुछ लिख पाना मेरे लिए संभव नहीं । आकस्मिकता की पृष्ठभूमि में किसी क्षण विशेष में क्या कुछ का कौंधना तो ठीक है लेकिन उस कौंध को बोतल में बन्द करने का उपाय और ऊर्जा भी तो चाहिए !

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

ऐसा तो प्रायः सभी रचनाकारों के साथ होता आ रहा है । लिखना कुछ चाहते हैं लेकिन भावावेश में कुछ का कुछ लिख जाते हैं । क्योंकि जिस भाव-विचार या अर्न्तध्वनि को हम शब्दों के भीतर से अभिव्यक्त करना चाहते हैं । उसके लिए सही सम्प्रेष्य शब्द न मिलने पर विवशता और असहजता का बोध बराबर कुरेदता रहता है । उसे खोजने-गढ़ने में विलम्ब हो सकता है किन्तु रचना को पूरा करने की दिशा में किसी भी क्षण उसकी झलक असम्भव नहीं । लिखते समय कई बार मुझे भी इस स्थिति से जूझना पड़ता है ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द

को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

सृजनरत होने की स्थिति में अचानक किसी बाधा की उपस्थिति से तन्मयता भंग हुई तो शब्दों के स्खलन से रचना की बुनावट में फ़र्क तो आ ही जाता है । इस प्रकार की विसंगतियों का सामना तो करना ही पड़ता है । फिर भी उपयुक्त शब्द ढूँढ़ने की कोशिश जारी रहती है ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को वहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

अवचतेन मन का प्रभाव कैसे, क्यों पड़ता है इसके उत्तर के लिए यहाँ दर्शन और विज्ञान का सहारा लेने की कोई गुंजाइश नहीं है । मानसिकता के कई स्तरों को जोड़ते-तोड़ते गुज़रना पड़ता है । रचना पर उसका प्रभाव स्वाभाविक है ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ?

अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ लिखने का विचार कभी मन में सहेजा नहीं । विषय इतना गंभीर है कि इस पर अनेक लोगों के विद्वत्तापूर्ण लेखों के संकलन उपलब्ध हैं । किन्तु उनका अध्ययन करने के बाद भी रचना-प्रक्रिया के मूल उत्स तक पहुँचने की कोई सीधी राह नहीं है । यह एक जटिल कर्म है । अनुमान किया जा सकता है कि धुँआ है तो आग हो सकती है । लेकिन इस तर्क से भी समाधान संभव नहीं । दर्शन और विज्ञान की शरण में जाने पर रचना-प्रक्रिया परमात्म ऊर्जा का रूप ले लेती है । तो फिर गूँगे के गुड़ जैसी भी नहीं है और पारदर्शी तरलता भी नहीं है, उस जल की तरह जो हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने से बनता है । विज्ञान सम्मत उपायों से जल को अगर तोड़ा जाए तो सिर्फ़ हाइड्रोजन और ऑक्सीजन ही प्राप्त होगा । लेकिन हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने पर जल नहीं बनेगा । दोनों के बीच निश्चय ही एक ऐसा उत्प्रेरक तत्व है जिसे आधुनिक विज्ञान की भाषा में कैटालिस्टिक एजेन्ट के रूप में मान्यता प्राप्त है । विज्ञान की इस दृष्टि के अनुसार उसकी उपस्थिति ही जल बनने का अदृश्य कारक है । जो बिजली की कौंध की तरह अपनी उपस्थिति दर्ज करके न जाने कहाँ ग़ायब हो जाता है । कुछ लोगों का कहना है कि सर्जनात्मकता एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के साथ-साथ मातृ सुलभ वैशिष्ट्य भी है । तो फिर यह प्रसव-पीड़ा जैसी एक ऐसी रचना-यातना है जिसकी प्रतीति रचनाकार को सिर्फ़ अपने एकान्त में ही हुआ करती है । ●

[illegible]

प्रोफेसर एमरिटस (आजीवन) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संपर्क : सुधर्मा, 13, गुरुधाम कालोनी, वाराणसी-221010 फोन : 312944

आदरणीय शिवप्रसादजी से पत्राचार ने मुझे सदैव प्रोत्साहित किया । बाद में मैंने अपने एक शिष्य राजेश यादव को प्रश्नावली के साथ भेजा । उन्होंने प्रश्नों का अलग-अलग जवाब न देकर अपनी बात टेप रिकॉर्ड करवाई. ।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह

जन्म : 19.08.1928

निधन : 28.09.1998

प्रमुख कृतियाँ :
वैश्वानर
नीला चाँद
अलग-अलग वैतरणी
गली आगे मुड़ती है
मुर्दा सराय

पुरस्कार/सम्मान :
साहित्य अकादमी, व्यास सम्मान
शारदा सम्मान आदि
अनेक पुरस्कार-सम्मानों से अलंकृत ।

मेरी रचना प्रक्रिया

मेरे एक नज़दीकी मित्र ने लिखा है कि दर्जा चार की कक्षा में शिवप्रसाद सिंह ने जब हल पर निबन्ध लिखा, तो उनके प्रेरणादायी अध्यापक **चन्द्रिकाप्रसाद लाल** ने स्पष्ट कहा कि दस वर्ष के सारे **कल्याण** के अंकों का पढ़ना लाभप्रद रहा । सच कहूँ, लिखना मेरे लिए वैसे ही था कि लगातार पत्रिकाएँ पढ़ता रहा, कल्याण पत्रिका आदि तो विशेष तौर से । यूं तो कक्षा आठ या स्पेशल जो उस ज़माने में कहलाती थी, वहाँ भी मुझे लिखने की आदत थी । निबन्ध आदि दिए जाते थे, प्रश्न पत्र के रूप में लेखन चलता रहा । सृजन सम्बन्धी लेखन या कोई रचना जिसे कहते हैं वह तो 1951 ई. के अक्टूबर महीने में प्रकाशित हुई । **वात्स्यायनजी** की पत्रिका **प्रतीक** थी । उसी में मेरी कहानी **दादी माँ** पहली बार छपी थी । मुझे अक्सर उन दिनों बुखार होता ही था भादो-क्वार में विशेषकर । ज्यों ही पानी थोड़ा स्थिर होता था नाले से बहकर आती हुई जंगली घासें और दादमोरखा या बनप्याज इस तरह की सारी चीज़ों को मिला-जुलाकर एक बड़ा-सा ताल भर जाता था । उसमें जबतक स्नान न किया जाए तो लगता था कि ताल का उपयोग नहीं हुआ । उसमें स्नान करने से जो होना था, मलेरिया हो जाता था । 1947 में जब मैं उदयप्रताप कॉलेज में इन्टमीडियेट करने आया तो जुलाई महीने में बहुत ज़्यादा मलेरिया का प्रभाव था और मैं बुखार में ही था । आठ जुलाई को कॉलेज खुलता है । ग्यारह जुलाई की बात है, सुबह से ही बुखार हो रहा था और लगा कि बुखार तो उतरेगा नहीं, तय है । मैंने हिम्मत करके अपने प्राचार्य महोदय के कमरे में प्रवेश करके कहा कि मैं चार दिन से दौड़ रहा हूँ । पता नहीं, मेरा नाम लिखा जाएगा या नहीं? उन्होंने पूछा– कितने परसेन्ट मार्क्स हैं? मैंने कहा सड़सठ प्रतिशत । उनका कहना था– कैसे नहीं होगा ! क्लर्क को बुलाकर उन्होंने डाँट लगाई– 'इसका एडमीशन क्यों नहीं लेते । इसको आर्ट्स (कला) में एडमीशन लेना है, सड़सठ प्रतिशत मार्क्स हैं, एडमीशन न होने का प्रश्न ही नहीं उठता । दे क्यों नहीं रहे हो एडमिट कार्ड? बार-बार परेशान कर रहे हो ।' उनकी डाँट से मेरा एडमीशन हुआ । इस घटना का उल्लेख मैं रचना प्रक्रिया के अन्तर्गत ही कर रहा हूँ । वैसा ही बुखार जब मैं बी.ए. में था तब मुझे हुआ था । बिड़ला कॉलैज के कक्ष नं. 85 में मैं रहता था । ऐसा बुखार जब गाँव में आता था तो क्या-क्या लोग करते थे, दादी माँ क्या करती थी? यह किस्से भी रचना-प्रक्रिया सन्दर्भ में बतलाना चाहूँगा । दादी माँ किसी ओझा की भभूति या दवा जो कुछ कहिए लगाती थी । हाथ-पैर में बहुत जलन हुआ करती थी । फूल की कटोरी से तकलीफ़ वगैरह कम हो जाती थी । उस समय तो कोई और था ही नहीं, एक यातना थी और भोगने वाला मैं था । मैंने सोचा कि क्यों न इस चीज़ को

लिख दिया जाए । इस प्रकार मैंने एक कहानी लिखी– दादी माँ क्या करती थी, इसे भी लिखा । बुखार में शिवाले से भगवान की भभूति आती थी, उसे दादी माँ सफेद साड़ी पहनकर बड़े ही शीतल हाथों से मुझको लगाती थी । बुखारवाले शरीर के भाग पर उनकी उँगलि की जो छुवन होती थी, वह भी बड़ी राहत देनेवाली चीज़ होती थी ।

दादी माँ अनेक मामलों में बहुत कठोर थी । गाँव की गरीब महिलाओं को ही सूद पर रुपए दिया करती थी पुरुषों को कम । सूदवालों का जैसा व्यवहार होता है, वे भी कहती थीं कि अच्छा सूद तो दे दो मूलधन बाद में देना । एक दिन एक औरत पर बिगड़ रही थीं कि हट-हट दूर हट । मैं अभी नहा धोकर आ रही हूँ । आ गई पैसे माँगने । वह अपना रोने-गाने लगी और कहने लगी कि मलिकिन क्या करूँ, इस बार की पैदावार अच्छी नहीं हुई । तीन-चार दिन बाद मेरी लड़की की शादी है मैं तो रुपए माँगने आई थी आपसे । दादी माँ ने कहा– बड़ी ठस है, सूद नहीं देती और रुपए माँगने आ जाती है । जब वह औरत जाने लगी तो दादी माँ ने कहा– रुक! रुक! तुमने तो कहा है लड़की की शादी है न । उसने कहा कि– हाँ, मलिकिन है लड़की की । दादी ने कहा कि तुमने पहले क्यों नहीं कहा कि तेरी लड़की की शादी है । मैंने तो सोचा कि लड़के की शादी है । गाँव की लड़की की शादी है, बोल कितना रुपया चाहती है । यही कोई बीस-पचीस । दादी माँ ने रुपए देते हुए कहा कि यह ले बीस-पचीस, लड़की की शादी में कस मत करना और ज़रूरत हो तो ले जाना । दादी माँ का यह एक रूप हमेशा याद रहा है मुझे ।

इस तरह से कई ऐसे प्रसंग है जिसमें दिखाया गया है कि देहाती समाज का ढाँचा खासकर के जब स्वतन्त्रता नहीं मिली थी उसका स्वरूप क्या था । उस समय लम्बी काश्त करने वाले लोग प्रायः ज़मींदार कहलाते थे । हमलोग भी एक प्रकार से ज़मींदार ही थे । हमारी दादी माँ में भी ज़मींदारी ठसक थी ही किन्तु किसी की आफत-बिपत में वे इस ठसक की सारी सीमाओं का अतिक्रमण कर पीड़ित की सहायता करती थीं ।

मैंने एक छोटी सादी सी भाषा में इसे आकार दिया । मुझे भान नहीं था कि मैं क्या लिख रहा हूँ । इच्छा हुई कि इसे साफ़-साफ़ लिखकर क्यों न **प्रतीक** पत्रिका में भेज दिया जाए । सितम्बर में मैंने लिखकर भेजा और अक्टूबर में मेरी पहली कहानी **दादी माँ** प्रकाशित हुई । **राजेन्द्र यादव** की कहानी **खेल-खिलौने** का भी प्रकाशन हुआ उस अंक में । **अज्ञेयजी** ने लिखा कि लोग कहते हैं कि कहानी के लिए प्लॉट नहीं मिलते, प्लॉट खोजने की ज़रूरत नहीं । आपके जीवन में जो देखा हुआ प्लॉट है, उसको एक नई ताज़ी भाषा के साथ पिरोइए । **दादी माँ** कहानी में ग्रामीण संस्कृति की सोंधी महक एवं मानवीय हृदय की सूक्ष्म गहराई विद्यमान है ।

नामवर सिंह ने **नई कहानी** में लिखा कि **दादी माँ** उस ज़माने की सबसे ताज़ा कहानी थी । नक़्क़ाशीदार शैली में लिखी **राजेन्द्र यादव** की कहानी **खेल-खिलौने** का भी उन्होंने अभिनन्दन किया । इन दोनों कहानियों को पढ़ने से मालूम हो जाएगा कि किस प्रकार

एक नए जीवन की एवं साफ़-सुथरी ताज़ी भाषा की कहानियाँ आना शुरू हो गई थीं । इसे आप जिस रूप में ले मैं तो समझता हूँ कि जब यातना की कोई सीमा टूट जाती है तब उसके भीतर कुछ चेतना की, कुछ स्मृति की परछाइयाँ झलकती है और उन्हीं स्थितियों में मैं लिख पाया । अन्यथा मैं यदि लेखक होता तो पिछले वर्ष मैं बीमार पड़ा था, मलेरिया हुआ था, तो क्यों नहीं मैंने लिखा?

गाँव में बुखार जब आता था तो दुनिया भर का टंट-घण्ट शुरू हो जाता था, जबकि यहां कोई नहीं था । एकान्त में पड़े हुए एक संत्रास की स्थिति थी फिर भी लेखन संभव नहीं हो पाया । एक प्रश्न था आपका कि **रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड महसूस करता है यानी तनावरहित** । पर रचते समय यह सवाल मुझे बड़ा उलझा हुआ लग रहा है क्योंकि मैंने 1974 तक जो साहित्य लिखा था, विशेषकर कहानयाँ, उस समय विभिन्न प्रकार के आन्दोलन शुरू हुए । उसमें ग्राम-कथा आन्दोलन अलग है, नगर कथा आन्दोलन अलग है । इसमें कुछ तो मेरी निजी देखी हुई चीज़ें थीं जो अबतक हिन्दी कहानी में नहीं थीं । जैसे मुसहरों पर, डोमों पर, शादी-ब्याह या लड़कों के मुण्डन-वुण्डन पर आने वाले हिजड़ों पर कोई कहानी नहीं थी । जितना भी तथाकथित अस्पृश्य तबका है, उसके बारे में जितना मैंने लिखा है, शायद ही हिन्दी के किसी अन्य लेखक ने लिखा हो । आज तो इन कहानियों की प्रासंगिकता पर इतनी बहस होती है, जैसे कोई कमाल हो गया हो! जब मैं लिख रहा था इनको लेकर मेरे मन में राजनीतिक दुराग्रह नहीं था ।

आज दलित साहित्य की चर्चा बड़े ज़ोरों से चल रही है और उसमें भी मेरी इन कहानियों की चर्चा बड़े ज़ोरों पर हो रही है । लेकिन जब मैंने **इन्हें भी इंतजार है** एक डोम लड़की की कहानी लिखी, **आचार्य नेमचन्द** (1962 में चण्डीगढ़ में थे) ने लिखा कि यह सचमुच एक उपेक्षित प्रतिभा है जिन्हें मैं अरसे से हिन्दी कहानी में देखना चाहता था । यही नहीं मेरी विभिन्न कहानियों के नायक-नायिकाओं की मानसिक स्थिति का गहन विवेचन करते हुए उनकी अवधारणा थी कि तुमने अपनी भाषा के द्वारा जो इन चरित्रों को मांसल स्वरूप प्रदान किया है वह काबिले तारीफ़ है । एक खास तौर से मेरी कहानियों की प्रशंसा भी हो रही थी किन्तु मैं जानता था कि मेरे पास कुलें पूँजी कितनी है !

18 साल गाँव में रहा और 1940 में मैं बनारस आ गया । बीच-बीच में गाँव भी जाता रहा । इसमें कोई शक नहीं । 1967 में फिर जब मेरी सत्रह के करीब कहानियाँ छप चुकीं और दुनिया भर की गोष्ठियाँ (कलकत्ते में भी शिक्षायतन कॉलेज में जो कथा-समारोह हुआ था उसमें मैं सम्मिलित था) हुई, ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ सस्पेंस चीज़ होनी चाहिए । तब मैंने अपना उपन्यास लिखा । कोशिश भी की कि एक लम्बी और सस्पेंस कहानी लिखने के लिए जो उपन्यास का रूप ले । मुझे कुछ अपने को नए तरीके से तैयार करना पड़ा ।

अब प्रश्न यहाँ ज़रूर उठता है कि उसके अन्तर्गत आपने क्या अनुभव किया ? देखिए एक सीधी परिचयजनिति आत्मानुभूति उस अलग-अलग **वैतरणी** की जो दुनिया थी, मेरी

कल्पना भी थी और मेरी निर्मिति भी। इस दुनिया का मैंने सृजन किया । साथ ही बहुत सी ऐसी चीज़ें थीं जो मेरी व्यक्तिगत जीवन से मेल खाती थीं ।

कभी-कभार तो उसकी नायक-नायिकाओं के बारे में जो चर्चा वगैरह होती थी । दूसरे शब्दों में एक मज़ाक की प्रवृत्ति यह कि अमुक नायिका जो है वह गाँव की वह लड़की है, ये है, वो है आदि । इसमें दो चीज़ें स्पष्ट थी कि इसमें मैं सत्तर प्रतिशत सृजन को देख रहा था, शेष तीस प्रतिशत ऐसा हिस्सा था जो मेरे परिवेश का हिस्सा था, मेरे आस-पास की ज़िन्दगी का हिस्सा था । मैंने इस विषय पर बहुत विचार किया कि क्या जो ये सामाजिक संसक्ति है मेरी, सर्वहारा वर्ग के प्रति, अमुक के प्रति, तमुक के प्रति, क्या मैं इस सामाजिक संसक्ति को बन्द करके केवल आदर्शवादी कहानियाँ लिखूँ ?

ऐसा कर सकता था । पर कर नहीं सका । समस्या यह थी कि एक विपिन है जो लागातार चाहता है कि गाँव को परिवर्तित कर दिया जाए । इसमें जो दुनिया भर का कूड़ा-कचरा और मलिनता भरी हुई है, उस मोह से छुटकारा पाया जाए । क्या वह अपने निकट को अपने ही जाल में बुनता नहीं चलता बार-बार ? एक चीज़ यह भी थी। । दूसरी यह थी कि सामान्य रूप से औरों को हो सकता है कि आदर्शवादी लगे। लोग यह कहेंगे कि उसने एकान्त में उसकी कलाई पकड़ ली थी या हाथ पकड़ लिया था। जैसाकि पटनहियाँ भाभी के बारे में उसमें चलता है । प्रश्न यह नहीं है । प्रश्न उसमें यह है कि मानव कितना कमज़ोर होता है और अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिए किस प्रकार उसको एक यथार्थवादी मूल्य दे देता है । यथार्थ बाद में होता भी है, नहीं भी होता है । तो यह मान लेना कि यह हुआ था । तो पटनहियाँ भाभी के साथ जो कुछ भी हुआ था, यथार्थ के धरातल पर वह निश्चय ही दुखद था । और उसका प्रभाव भी बहुतों पर उस ढंग का पड़ा । मेरे लिए अलग-अलग वैतरणी जैसा कि परमानन्द श्रीवास्तव और कई लोगों ने कहा कि लगभग 500 कहानियों की हत्या करके यह एक सॉलिड नावेल लिखा गया है । 500 कहानियों की हत्या करके नहीं लिखा गया । 500 कहानियाँ आपको अलग-अलग मालूम होती है जो टुकड़े-टुकड़े एक ही कथा की अंश हैं, श्रृंखलाबद्ध हैं ।

मैंने तो यहाँ तक कहा है कि ये जो गुब्बारे होते हैं गुब्बारे, उन्हें सूते में बाँध दीजिए चारों तरफ से । यदि एक मुट्ठी में बंद हैं तो उनका एक महत्व है । अगर एक भी गुब्बारा मुट्ठी बाहर होता है तो उसका समूह जो ऊपर नाच रहा है, वह धीरे-धीरे टूट जाएगा या नीचे आ जाएगा ।

समानान्तर कथाएँ होते हुए भी, बहुनायकत्व की बात होते हुए भी इसमें कोई एक नायक नहीं है, एक नायिका नहीं है, कई-कई हैं । यहाँ सारा कुछ होते हुए भी वह एक उन्मुक्त लेखकीय रचना प्रक्रिया से सम्पृक्त है । चरित्रों का विकास तो अलग-अलग हो रहा है, समूह रूप में उसको इस सीमा तक विकसित होने दिया जाए ताकि वहाँ उपन्यास की मर्यादा भंग नहीं हो । इसके प्रति लेखक को कॉनशस होना चाहिए या मेरी जो चेतना थी

जो सदा उसके प्रति जागरूक थी । मेरी रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में विजय आनन्दशाही का निबन्ध निकल चुका है । **नेशनल पब्लिशिंग हाउस** से **प्रेमचंद जैन** की पुस्तक **बीहड़ पथ का यात्री** में भी रचना प्रक्रिया सम्बन्धित निबन्ध है । इस सम्बन्ध में **सीतांशु** ने भी **वाणी प्रकाशन** से अपनी पुस्तक निकलवाई है । (हँसते हुए बीच में बोले– बात रचना प्रक्रिया की है, अवान्तर किसी भी बात को न समझें ।)

दरअसल मैं एक ऐसी शैली चाहता था हिन्दी उपन्यास में जो **रेणु** के **मैला-आँचल** से गन्दी भी न हो । **मैला आँचल** का जादू इतना ज़बरदस्त था कि लोग प्रायः ग्राम कथा से कटकर आंचलिकता की ओर जाने लगे । बस्तर की ज़िन्दगी पर **शानी** लिख रहे थे या कि गढ़वाल की ज़िन्दगी पर अमुक साहित्यकार लिख रहा था, आँचलिकतावाद मुझे पसन्द नहीं था । क्योंकि **अलग-अलग वैतरणी** का करैता जो है वह भारत का कोई भी गाँव हो सकता है, किसी भी नगर का एक इलाका हो सकता है ।

एक बार एक बड़ी मज़ेदार घटना हुई । मेरे एक शिष्य ने बम्बई से पत्र लिखा कि **बांदिवडेकर** ने **अलग-अलग वैतरणी** की बहुत ही कटु समीक्षा की है । उसके द्वारा भेजी गई पुस्तक को मैं पढ़ने लगा । पुस्तक में लिखा था कि **अलग-अलग वैतरणी** में **रेणु** की तुलना में निम्नलिखित कमियाँ हैं, जैसे **अलग-अलग वैतरणी** में लोकगीत बहुत कम हैं, आँचलिक पशु-पक्षी आदि का ज़िक्र बहुत कम है । मेरी इस समीक्षा पर प्रतिक्रिया थी कि बांदिवडेकर को धन्यवाद देना चाहिए कि जो **रेणु** में नहीं है वह **शिवप्रसाद सिंह** में है । यही तो मेरा संकल्प था कि मैं आंचलिक न माना जाऊँ, **रेणु** से बचना चाहता हूँ । **रेणु** में जो है, **शिवप्रसाद सिंह** में न हो । बढ़िया काम किया उन्होंने, उन्हें धन्यवाद देना चाहिएऊ। **बांदिवडेकर** से भेंट होने पर उनका कहना था - कि यह गलती थी, बड़ी भारी मूर्खता थी **शिवप्रसादजी**, भूमिका में ही लिखा हुआ है कि मैं **रेणु** की खोज करके नहीं लिख रहा हूँ कि इसको आँचलिक माना जाए । आपको यह आँचलिक लगे भी तो दृष्टि को आँचलिक मत होने दीजिएगा, उपन्यास की भूमिका में यह लिखा हुआ है । एक रचना के विषय में यह दृष्टि है ।

दूसरी दृष्टि बहुत कांशसली रचना मेरी आगे बढ़ती है । अगले मेरे दोनों उपन्यासों में आप देख सकते हैं । सन् छिहत्तर में मुझे साइटका हुई । उसकी चिकित्सा से परेशान, चलना-फिरना बन्द । तीन-चार साल इस वजह से कुछ भी काम करना बन्द हो गया । इसके बाद मेरी पुत्री के दोनों गुर्दे नष्ट हो गए । उसकी चिकित्सा के लिए चण्डीगढ़, वेल्लोर (जहाँ कि C.N.C. (Christain Medical College) तमिलनाडु का एक हिस्सा एक गाँव) घूमता रहा ।

दस साल का एक अन्तराल है, दस साल एक जमा हुआ ग्लेशियर है, एक घना तिमिर है । दस साल मैं बिल्कुल निष्क्रिय रहा हूँ । मैंने वादा किया था कि अगर मैं एक घण्टा भी मृत्यु को रोक लूँगा तो मुझे अपने किए पर अद्‌भुत प्रसन्नता होगी क्योंकि मृत्यु का मेरे

परिवार पर लगातार हमला हो रहा था । इस बार मृत्यु पुनः अपनी जीत की खुशी मनाना चाहती है तो यह लड़ाई बड़ी साफ़ होगी । ज़मीन वगैरह बेचकर ढाई लाख रुपया लगाकर ऑपरेशन करवाया । ऑपरेशन के बाद साढ़े चार वर्ष वह जीवित रही । अब मृत्यु सबल थी । मृत्यु हमेशा सबल रही है सबसे । मेरे मन में यह कसक नहीं रह गई **निराला** की तरह कि बेटी की चिकित्सा नहीं करा सका । यह मेरे द्वारा किया गया एक प्रकार से सद्‌प्रयत्न था । अन्त में निष्फल हुआ, मृत्यु भी मेरे लिए निष्फल हुई । अकस्मात् एक नई घटना घटी । मन में अपनी पहचान का प्रश्न उठा । कम्युनिस्टों की दुनिया क्या है ? **हेमिंग्वे** और **चुगताई** की दुनिया क्या है ? मुझे प्रतीत हुआ कि मैं दस साल में नहीं बुझा, न बुझना ही मेरा जीवन है । कलम उठाकर लिखने पर चौदह-चौदह घण्टे मानो लेखन की वर्षा हो रही हो । जितना घना तिमिर होता है लड़ाई उतनी ही भयानक होती है । अन्त में मानवता जीतती है, तमस पराजित होता है । लेखन के कई-कई कोण मेरे दिमाग़ में थे । उदाहरण के लिए मुझे यह भी नहीं बताना था कि मैं कोई दार्शनिक हूँ और दर्शन को लेकर साहित्य में आया हूँ । यद्यपि दर्शन मेरा विषय रहा है लेकिन साहित्य में दर्शन को लाना नहीं चाहता था मैं । वास्तविकता यह थी कि मेरी आस्था के मूल केन्द्र **अरविन्द** और **माँ** पाण्डीचेरी को जितनी गालियाँ मैंने दीं, उतन शायद किसी को नहीं । **नीला चाँद** के चार साल बाद मैंने एक किताब लिखी ।

प्रकाश की लड़ाई यही से शुरू होती है । मैं मानता था कि मैं व्यक्तिगत रूप से भारत का रहने वाला अपनी सीमाओं में आबद्ध एक नागरिक हूँ । नागरिक के भीतर भी मैं तहकीकात करना चाहता हूँ कि मनुष्य के शरीर में हाड़-मांस के अलावा भी कुछ है कि नहीं । मुझे आभास हुआ कि मनुष्य में हर अन्धकार के पहले यदि वह सावधान है, मन के भीतर से ही ज्योति की एक रेखा दिखाई पड़ती है । यह रेखा सबके पास है । उसको जागृत करना होगा । जागरण के लिए एकाग्रता ज़रूरी है । यह एकाग्रता उपन्यास में पाई जा सकती है, संगीत में पाई जा सकती है, कहीं भी पाई जा सकती है । वह मानवीय विजय की गाथा अमोघ इच्छाशक्ति जिसको मैं कहता हूँ । **पन्तजी** चिरशक्ति, चिन्मय प्रकाश या अतिमानसिक महाशक्ति मानते हैं । जिसमें थोड़ा भी Will-Power है, वह अपने इस पावर से सामान्य से सामान्य सम्बल के बल पर भी कठिन से कठिन लड़ाई लड़ सकता है । हर शख्स के भीतर एक तुलसी चौरा है । मन के आंगन के भीतर एक नीला चाँद है । उसको खोजने के लिए प्रकाश को ढूँढ़ना ज़रूरी है । अँधकार के विरुद्ध लगातार जूझना यही मानवता की निशानी है । मैं हारा कहाँ, चिकित्सा कराकर फेल हो गया । **नीला चाँद** इसका प्रतिफलन है । मानवीय विजय गाथा का एक रूप, राजपाट छीन लिया गया है, भाई मार डाला गया है, भाभी चिता पर चढ़ चुकी है । बार-बार इसको उलटना-पलटना बेकार लगता है । **अधूरे सपनों का आत्मकथ्य** पर साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त करते समय मैंने पढ़ा था जो मेरे निबन्ध-संग्रह **क्या कहूँ कुछ कहा न जाए** में निकल चुका है वही मेरी एकमात्र रचना प्रक्रिया है । इस निबन्ध में ऐसे स्रोत हैं जिनको

मानव भी जानता है । लेकिन आज उसने जानना बन्द कर दिया है । एक कहानी चलती है । महावशिष्ठ पूछते हैं कि क्या तुम जानते हो कि यह नगर कैसे बसा ? नगर बसाने की बात है कि ऐसे बसा वैसे बसा । ईंट-पत्थर आते गए नगर बनता गया । ज्यों-ज्यों साधन ज़्यादा बढ़ते गए नगर के लोग उदास होते गए । उनके अन्दर बाकी सारा कुछ था, आनन्द नहीं था । बहुत से लोग सोच रहे थे कि जीवन क्यों इतना नीरस और मशीनी होता जा रहा है, सभी उस उत्स को खोजने निकल पड़े जिसे कहा जाता था कि वही आनन्द का स्रोत है । जो भी वहाँ गया उसका सौन्दर्य देख वहीं रूक गया, भूल गया कि वह कुछ ढूँढ़ने के लिए निकला था । वह उत्स क्या है । वह उत्स आनन्द का है । मेरे नगर काशी की विशेषता है कि यह किसी बाहरी उत्स से चलने वाला नहीं है । शिव स्वयं ही यहां के उत्स हैं । मैं किसी उत्सविहीन नगर का निवासी नहीं हूँ । मैं उत्सयुक्त नगर का निवासी हूँ । यहाँ **आनन्द** आप पा सकते हैं ।

इसके बाद मैंने दिल्ली पर दो उपन्यास लिखे **कोहरे में युद्ध** और **दिल्ली दूर है** । मेरे मन में एक प्रश्न था कि सात सौ वर्षों या अब एक हज़ार वर्ष लगातार साथ रहने के बाद भी हिन्दी और मुसलमानों में साख्य क्यों नहीं हुआ ? उस अविश्वास को जानने के लिए मैंने दिल्ली नगर को चुना । बहुत बड़ी पंक्ति है यह **निज़ामुद्दीन औलिया** की **हनौस्त दिल्ली दूर अस्त**, अभी दिलली दूर हैउस शीर्षक को तो मैंने लिया लेकिन औलिया के बारे में बहुत कम कहा । प्रश्न बिल्कुल स्पष्ट है कि कौन-सी चीज़ है जिसने विभेद में अहम् भूमिका निभाई । वह चीज़ थी अपमान और हिकारत की भावना । किसी हिन्दू के घर में अगर शादी है वह गाँव की गली जहाँ मुसलमान रहते हैं, घोड़े पर चढ़कर नहीं जा सकता । उसको अपमानित करने के लिए, दुत्कारने के लिए यह परम्परा थी । इस्लाम अगर स्वीकार कर ले, सब कुछ उसका है । यदि स्वीकार नहीं करता तो इतना जजिया लगा दिया जाता था कि या तो धीरे-धीरे वह मर जाता था अथवा इस्लाम स्वीकार कर लेता था ।

जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि मध्यकाल में उन दिनों जनूबी हिन्द में रहना कितना मुश्किल था । जो पत्र उन्होने **इन्दिरा गाँधी** के नाम लिखे थे उन पत्रों में ज़िक्र किया है कि उन दिनों जीवन कितना मुश्किल था । यह पराजित होने का रूप नहीं है । हिन्दू पराजित होकर भी और देशों की तरह मुसलमान नहीं हो गया । अभी भी हिन्दू बहुसंख्यक हैं, पर्याप्त बहुसंख्यक हैं शायद उस समय जितने नहीं थे उससे ज़्यादा बहुसंख्यक हैं । सवाल यह नहीं है । सवाल उसके भीतर है । कोई ऐसी घात है जो दोनों के भीतर है । भुलाई नहीं जा रही है क्यों ? हमारे गाँव के चमार, हरिजन जिनको हमलोग कहते हैं और यहाँ रहते भी हैं, विधायक थे । उनसे मैंने कहा – इधर आपने खाने पर बुलाया नहीं । उन्होंने कहा – डॉ. साहब, जब आप आइए, हम आ जाएँगे बुलाने । मैंने कहा – हमारे साथ दो एक और लोग भी आएँगे । कहने लगे – कौन-कौन आएगा । मैंने कहा – मैं, नज़ीर बनारसी और ऐसे ही दो एक लोग और । तपाक् से उनका उत्तर था – नहीं, नज़ीर

बनारसी कैसे आएँगे । आपको मैं थाल में खिलाऊँगा । उनको मैं थाल में कैसे खिला सकता हूँ । हाँ, कहिए तो केला का पत्ता या पत्तल वगैरह मँगा लें । अलग रखना होगा उनको । मैंने कुछ कहा नहीं । किन्तु एक स्थिति को बता रहा हूँ ।

क्या इस तरह की सोच आज नहीं है ? है आज भी । हिन्दुओं द्वारा दुत्कारा हुआ हरिजन भी उसी सोच में ग्रस्त है । उनको अपने वर्तन में खाने नहीं देगा इतना घृणित रूप समाज पर प्रभाव पड़ा है । यह क्यों है ? कैसे रूक सका है ? वह रुक सकता है कि पुनः एक जुनून देशभक्ति का सवार हो । हमारा हिन्दुस्तान सारे जहाँ से अच्छा है तो उसमें समान रूप से हिन्दू और मुसलमान अपने मुल्क के लिए देशभक्ति के मूड में आ जाएँ । तब धार्मिक कट्टरता को भुला सकते हैं क्योंकि **वन्देमातरम्** गाना भी वे अपना अपमान समझते हैं । जबतक भारत का एक यूनियन या एक संघ नहीं बनता तब तक भारत बचेगा भी नहीं । भारतमाता का जो सही स्वरूप है यानी बर्मा, सिलोन वगैरह को लेकर जो स्वतन्त्रता के पूर्व भारत का था वैसा ही दक्षिण एशियाई संघ बनाना चाहिए और बनाना ही नहीं चाहिए, ईमानदारी से उसको मानना भी चाहिए । अन्यथा धार्मिक भावनाओं से शासन चला जैसाकि भारत में हो रहा है कि वोट पाने के ए उनको सुविधाएँ दी जा रही हैं, ऐसा नहीं चलेगा । एक होना इसलिए भी ज़रूरी है, आपका तथाकथित मुक्त बाज़ार और भूमण्डलीकरण का दौर । मुझे ऐसा लगता है कि आनेवाली मानवता जो है वह मुक्त और स्वतन्त्र तथा सबके लिए दुख और कष्ट का निवारण करने वाली होगी । उसके बाद मैंने **वैश्वानर** लिखा । ढाई तीन साल पढ़ने के अलावा और उसी में तल्लीन रहने के अलावा कोइ उपन्यास नहीं बनता और बनता है तो जबरदस्ती लिखकर नहीं बनता । उपन्यास बनता है तो उसका अधिकांश हिस्सा अपने आप आता है । वह लेखनी पर यों चलने लगता है कि हाथ दर्द करने लगेगा । गर्म पानी में नमक डालकर डुबोना पड़ेगा । वह जब आ रहा है तो एक जुनून सा चलता रहता है । आप बैठ जाइए या प्रयत्न कीजिए तो दो पन्ना भी नहीं लिख पाइएगा और दिन कब खत्म एवम् कब शुरू हुआ तो दस-दस पेज लिखते जा रहे हैं ।

रचने समय तो हर रचनाकार अकेले ही होता है । शायद ही कोई उपन्यासकार कवि या लेखक हो जो यह स्वीकार करे कि जब बहुत तेज़ हाहा-हूही और गाना चलता हो तो मैं लिखता हूँ । यह तो प्रश्न ही बहुत कुछ अपूर्ण जैसा है कि परिवेश और रचना के संबंधों पर चर्चा करें तो रचते समय केवल आत्मासाक्षात्कार की स्थिति होती है । कहीं ऐसा नहीं होता ।

लिखने का सबका अलग टाइम है, अपनी स्टडी है, अपने तौर-तरीके हैं । ज़्यादा शोर-शराबा हुआ, लड़के-फड़के आ गए तो ऊपर के कमरे में मैं अपना काम ट्रांसफर करके काम करते रहूँगा। लिखते समय तो हर आदमी अकेला होता है । **आत्मसाक्षात्कार अलग चीज़ है** । आत्मसाक्षात्कार एक बड़ा घराऊँ शब्द है । ऐसा नहीं होता है कि भीड़ को लेकर लिखे तो वह सर्वसाक्षात्कार है और अकेले बैठकर लिखें तो आत्मसाक्षात्कार है ।

सच्चाई तो यह है कि यह जगत् साक्षात्कारों का है । साइन्स के विकास की इस स्थिति में भी आदमी के दिमाग के more than $^1/_8$ सेल्स केवल प्रज्ज्वलित हैं, बाकी सब सुषुप्त हैं । कुछ सुपरमैन **आइन्सटीन** टाइप के लोग हैं जैसे प्राचीन काल के हमारे ऋषि थे इनके मानसिक जगत को ग्रे मैटर का सेल कहते हैं । अब तो रिसर्च इस पर हो रहा है कि द माइण्ड ऑफ सेल का दिमाग़ क्या है ? **आइन्सटीन** की साइन्स, **शेक्सपियर** के ड्रामाज़ और **कालिदास** की कविताएँ और उनके नाटक आसमान में हैं तो यह गलत है । कुछ नहीं है आसमान में । यह सब कुछ मिलजुल कर वातावरण के रूप में हमारे मस्तिष्क में लगातार टकरा रहे हैं । हमारे पास उनको ग्रहण करने का, पकड़ने का यंत्र बना ही नहीं । इसको भी यदि World mind कहें तो World mind का मतलब ही होता है कि ज्ञान की सारी अवधि जो ऋग्वेद से लेकर आज तक मानव जाति ने प्राप्त की है वह अमर है । यह अक्षर ब्रह्म अमर है । उसको हम आज बम्बई से पकड़ लेते हैं, कैलिफोर्निया से पकड़ लेते हैं और हमें सुनाई पड़ता है । अतीत को हम पकड़ना शुरू करेंगे तो **तानसेन** को भी सुन सकते हैं, तुमको भी सुन सकते हैं । इसलिए आत्मसाक्षात्कार शब्द मेरे लिए बहुत बौना है । सर्वसाक्षात्कार कहो । **सर्वसाक्षात्कार की भावना लेकर ही लेखक एकाग्र होकर बैठता है लिखने के लिए** । वह आत्मसाक्षात्कार के लिए बैठता । यदि वह बैठता है, आत्मसाक्षात्कार के लिए तो वह नया लेखक होगा । कभी-कभी बड़ा आनन्द भी आता है । लिख रहे हैं और टी. वी. चल रहा है । मेरी पुत्र-वधू आती है और कहती है – बाबूजी टी. वी. बन्द कर दीजिए । साढ़े बारह बज रहे हैं । खाना खा लीजिए ।

सवाल यह है कि आत्मसाक्षात्कार तो पिछले दो वर्षों से कर रहा हूँ उस उपन्यास का जो निरन्तर मेरे मस्तिष्क में है । सल्तनतकालीन इस्लाम जो आया था भारत में उसका रूप क्या रहा होगा । लेकिन नहीं हो पा रहा है । किसी भी मुस्लिम इतिहासकार का लिखा हुआ ग्रंथ नहीं है जो मैंने छोड़ा हो क्योंकि सबका अनुवाद हो चुका है । गोला, बारूद, मिसाइल और दुनिया भर की सारी चीज़ें अमेरिका की भाषा में मिसाइल्स । यह सब चीज़ें क्यों हैं ?

एक आदमी ने मुझसे पूछा था कि क्या आपने खाड़ी युद्ध पर कुछ नहीं लिखा । मैंने कहा-- खाड़ी युद्ध पर विश्व की चुनी हुई लगभग 50-60 एजेन्सीज़ नाना कोणों से दूरदर्शन से लगातार सामग्री भेज रही थीं। C.N.N. इसका सीधा प्रसारण कर रहा था । किस लेखक के पास इससे बड़ी भाषा है कि वह पेट्रोल जो बह रहा है समुद्र में, उसमें पक्षी मर रहा है और उसको बचाने के लिए कैसे पेट्रोलविहीन जल में डाल रहे हैं सब । इससे अधिक कौन लेखक लिखेगा ?

इतिहास में हम इसलिए नहीं जाते हैं कि हमको पीछे का प्रिय है, नहीं । हमको भविष्य की ओर जाना है । जब धक्का पीछे से मिलता है हम आगे की ओर दौड़ते या उछलते है । इतिहास में जाना क्यों ज़रूरी है ? इतिहास में जाना ज़रूरी है क्योंकि कुल हफ्ते भर के भीतर एक शुत्र को ध्वंस और नष्ट कर दिया गया । इस समस्या पर मुझे लिखना हुआ

तो मैं क्या करूँगा ? मैं तुरन्त करूँगा कि यहीं बगदाद का खलीफ़ा राज्य कर रहा था। उस वक़्त फ़ारस, ईरान जो है, चंगेज खाँ का पौत्र हलाकू गर्वनर था फ़ारस का, उसने अपना कासिद भेजा बगदाद के खलीफ़ा के पास कि तुमने पिछले साल की चार लाख मुहरे और इस साल की चार लाख, कुल आठ लाख मुहरें जमा नहीं कीं। खलीफ़ा तैश में आ गया। खलीफ़ा ने कहा– अरे जा, जा। लुटेरों के डराने से ह खिराज नहीं पेश करेंगे। और हलाकू ने कहा– हमला। हमला कहा उसके बाद कहा जमींदोज़। बगदाद का मतलब है बागों का शहर। बगदाद City of Gardens was totaly burnt. एकदम जलाकर जमींदोज़ कर दिया गया। क्यों साहब ? चार लाख दीनार नहीं दिया। सवाल यही है कि अगर हलाकू कह रहा है कि दो डालर कम कर दो प्राइस और खलीफा ने मान लिया होता तो हलाकू अट्ठाइस रूपों में आकर उसको नष्ट कर रहे थे वह नहीं आता। मुझे इस मसले पर लिखना होता तो मैं हलाकू पर लिखूँगा। इस पर नहीं लिखूँगा, क्योंकि वह तो मीडिया दिखा रहा है। हमें Gone back world दिखलाई पड़ता है। उसमें कुछ समाधान है जो अखबारों को दिखाई नहीं पड़ता है। समाधान के लिए हमको बैक में जाना पड़ता है तो हम इतिहास में गए हैं खण्डहरों में झाँकती आज की समस्याओं के लिए। हिन्दुस्तान में समस्या क्या है ? हिन्दू-मुस्लिम दंगा। और आज के परिवेश में हम झाँकते हैं कि क्या हुआ था, जो बरेली में या भागलपुर में दंगा हुआ था। खासतौर से बिहार के भागलपुर वाले दंगे में जिसमें कुए में लाशें सड़ रही थीं। यह क्या है ? इसका जवाब क्या है ? इसका जवाब समाज आजकल नहीं दे पाएगा। बीसियों कारण हैं। यानी सामान्य रूप से किसी के घर में जाकर पूछिए कि मुसलमान का त्यौहार आता है तो बिजली दिनभर रहती है। हिन्दू का त्यौहार आता है बिजली ग़ायब रहती है। पानी नहीं मिलता। सवाल यह है कि क्या करें। उसके ऊपर तो मिनिस्टर की या एम. पी. की साँसत है। नहीं करेगा तो उनको वोट कहाँ से मिलेगा। यदि माइनारिटी को खुश करना ही किसी सरकार का उद्देश्य बन जाए तो वह सरकार खुद भोगेगी।

एक सज्जन Executive council के मेम्बर, अलीगढ़ मुस्लिम युनिर्वसिटी के इंगलिश डिपार्टमेंट के हेड ने कहा– **प्रेमचंद बहुत ही संतुष्टवादी और संतुष्टीकरण के पुजारी थे।** उन्होंने जितना हिन्दू जमींदारों के बारे में लिखा है उनसे सौ गुना ज़्यादा खतरनाक और अमानवीय आचरण करने वाले इस्लामी जमींदार थे, जो उन्होंने छुआ नहीं। एक पढ़ा-लिखा प्रोफेसर प्रेमचंद के बारे में ऐसा कहता है। दो चीज़ें प्रगतिशील लेखक संघ की जो पहली बैठक 1936 में लखनऊ में हुई थी, उसी वर्ष प्रेमचंद मर गए। प्रगतिशील बने कब वह ? यह मिथ लादा गया है, ओढ़ा हुआ है। इन मिथों से कुछ नहीं होता।

आदमी जब एकान्त में रहता है इसलिए रहता है कि उसके मानस में जितनी क्षमताएँ हैं, वह ज़्यादा सही ढंग से उन समस्याओं को चित्रित कर पाए जिनपर वह काम कर रहा है। वह तो निज़ामुद्दीन औलिया का साक्षात्कार कर रहा है। वह दिल्ली के उस ज़माने

का साक्षात्कार कर रहा है । देख तुम्हारी गलियाँ हैं जहां रोज़ के रोज़ दरिन्दों की तरह आदमी मारे जा रहे हैं । तुम्हारी सड़ी हुई अँतड़ियों की तरह फैली हुई ये गलियाँ, देख यह दिल्ली । क्या है यह दिल्ली ? दिल्ली क्या है एक पूरा का पूरा इतिहास है । हर गली का अपना एक इतिहास है । उसमें कहीं दम घोंटा गया है, कहीं किसी का कत्ल हुआ है । कहीं किसी को पीठ में छुरा भोंका गया है । मानवता लहू-लुहान हुई है । यह आत्मसाक्षात्कार नहीं है । यह सत्य का साक्षात्कार है जिसे आप व्यक्त करना चाहें तो करें । आज का मनुष्य बहुत ज़्यादा सोचता है । एक ट्रेन में किसी को यात्रा करनी है । महानगरी से वह जा रहा है, बनारस से बम्बई । व्हीलर के यहाँ प्रवेश है तो कहता है भई जरा यह मोटा वाला ग्रंथ **दिल्ली दूर है** निकालना । कितने का है ? तीन सौ । उसने ले भी लिया । पढ़ते-पढ़ते वह बम्बई पहुँच गया । यहाँ सवाल क्या है, आप मुझसे पूछिए ? सवाल यह है कि आज जब सामान्य रूप से हमारे यहाँ बनारस में तीस-बत्तीस रुपया किलो अरहर की दाल मिलती है, कम अच्छा खाने लायक गेहूँ नहीं मिलता । लगभग यही हालत चावल की है । ऐसी स्थिति में क्या जो पहले होता था, उतने में आज कितना फ़र्क है । हर आदमी जानता है कि पैसे का मूल्य कुछ नहीं है । कोई आदमी बाज़ार करने जाता है तो दस बीस नहीं खोजता, सौ-सौ के दर्जनों नोट लेकर चलता है, यह सारी स्थितियाँ Raw material हैं, साहित्यकार की जानी हुई हैं । उस पर लिखने के लिए किसी साक्षात्कार की ज़रूरत नहीं है । उसको तो हम जानते हैं, देख चुके हैं, पता लगा चुके हैं । यही चीज़ है न उसमें, फिर जब लिखते हैं, पुरी सत्ता के साथ उसे प्रस्तुत करते हैं । बिना समझे कौई ज़बरदस्ती की रचना हो रही है, तय है कि मैं तीनों में से कुछ नहीं मानता । यदि कोई सरल चीज़ लिखनी है तो उसे अनुभवगम्य करके, कथाकार के रूप में एक रूप दिया जा सकता है, गम्भीर विषय के लिए वातावरण तैयार करना पड़ता है, न वह तरल होता है, न ही पारदर्शी । पारदर्शी जल में आपकी परछाई दिखाी पड़ सकती है वैसे ही अभिव्यंजित पदार्थ भी दिखाी पड़ने लगता है । **रामकृष्ण परमहंस** ने कहा कि काली-काली नहीं बल्कि श्वेत है । यह कौन सी प्रक्रिया है ? जो रचनाएँ सामयिक समस्याओं पर सरलता और उद्देश्य के लिए होती है उनमें ये स्थितियाँ आ सकती हैं । किन्तु जो रचनाएँ ऐसी नहीं होतीं उनमें यह गुण नहीं आ पाता । मैं रचना को सतही विश्लेषण से अलगाना चाहता हूँ । **रचना मेरे लिए मानसिक घात-प्रतिघात से उत्पन्न एक ऐसी वस्तु है जिसे मैं अपने बौद्धिक दबाव के कारण एक रूप देना चाहता हूँ । भाव जब सघन होता है तो भी वह पारदर्शी जल नहीं बन सकता क्योंकि जल मात्र जल, दूसरों के लिए है ।** यह भी तो हो सकता है कि हम उस जल में एक टेढ़ा-मेढ़ा कीड़ा भी देख सकते हैं जैसे **चलैं जोंक ज्यों वक्रगति यद्यपि सलिल समान** । इसलिए सामान्य घटनाएँ रचना प्रक्रिया को उद्वेलित करने वाली स्थितियाँ इतनी आसान नहीं है कि उनकी व्याख्या कर दी जाए । मनुष्य का एक सेल (कोशिका) ज़ब पकड़ में नहीं आ रही तो पूरा रचना विश्लेषण हमारे काम का किस रूप में बनेगा ? जैसे हम जब तक किसी उद्देश्य से

सम्पृक्त किसी कथांचल को यह विचारांचल को जीवित नहीं कर सकते, तो उसका साहित्य में रूप क्या हो सकता है ?

सृजन प्रक्रिया की दृष्टि से मुझे परिस्थितियों से संवलित, आश्लेषित चरित्र पहले आकृष्ट करते हैं बाकी चीज़ें बाद में । जगत् के चरित्र ज्यों-त्यों कहानी के अंग प्रायः नहीं बनते। रचना प्रक्रिया के बीच कहानी ध्वन्यार्त की संचेतना इन चरित्रों को खण्डशः अनेक टुकड़ों में बाँटकर पुनः नए ढंग से इनके संयोजन का प्रयत्न करती है । इस पुनर्संयोजन में लेखक की निजी अनुभूतियों की सजावट भी बहुत बड़ा काम करती है । भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कमाए अनुभवों के रासायनिक द्रव, चरित्रखंडों को, एक निश्चित अर्थ की दृष्टि में रखकर जोड़ते रहते हैं । लेखक की सफलता इस बात में होती है कि वह अपने भीतर चारित्रिक स्थितयों और संघर्षों का तथा जीवन की वास्तविकता का ऐसा सूक्ष्म, सही और प्रामाणिक अनुभव रखे कि भिन्न-भिन्न समयों में उपलब्ध चरित्रखंडों को सही ढंग से जोड़ सके ।

मेरी रचना प्रक्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु वस्तुओं के स्वभाव से संबद्ध है, अपने बाहर और मानवीय अस्तित्व को छोड़कर दूसरा जो कुछ भी है, सभी पदार्थ है, वस्तुएँ हैं । पदार्थ किसी वस्तु के लिए निश्चित पद का अर्थ होता है । इस कारण वस्तुओं के रूप में हमें जो कुछ प्राप्त है यह नामरूप का क्रीड़ा क्षेत्र है । वस्तुएँ इस निश्चित नाम और रूप से कुछ भिन्न हैं ? इस प्रश्न के विषय में कथाकार की जागरूकता परिस्थितियों और मनुष्य के कर्मों को समझने के लिए सही दृष्टि देती है । जड़ और चेतन जगत का यह विभाजन दैनदिंन जीवन में कभी समस्या नहीं बनता, किन्तु मानव मन की प्रक्रिया उससे प्रभावित ज़रूर होती है । इसी कारण ऐसी स्थिति में जब मन की दैनदिंन गति बाधित होती है अथवा कोई संकट या उद्वेग का क्षण आता है, वस्तुओं और मनुष्य के बीच कृत्रिम रूप में अनजाने स्थापित संबंध टूट जाते हैं अथवा बदल जाते हैं । यह स्थिति केवल दो प्रकार से आती है । एक तो असामान्य मनःस्थिति में, दूसरे अबोध अचेतनता में ।

एक और बात यहाँ दबाव में कहानी लिखने की उठी है तो मैं **मुर्दा-सराय** को सामने रखूँगा । सोचता हूँ कि क्या 1953 की जुलाई में अपने दो शिशुओं की मृत्यु का दबाव 1965 में कहानी में नहीं फूट पड़ा ?

नहीं, यह लेखकीय रचना-प्रक्रिया का सबसे बड़ा मज़ाक माना जाएगा । असल में दबाव कहानी या कोई भी रचना नहीं बन सकता जब तक उस वेदना को पुर्नर्जीवित (री-लिव) नहीं किया जाता । वेदना दबाव की अधिकता के कारण अवचेतन में डूब जाती है । जब उसी तरह की कोई घटना अपने साथ या अपने से जुड़े व्यक्ति के साथ घटती है, तब अवचेतन की यह पीड़ा सतह पर छा जाती है । **मुर्दा सराय** स्पष्टतः एक ऐतिहासिक घटना की देन थी, लेखक से संबंधित पर यह घटना किसी और परिस्थिति में किन्हीं भिन्न क्रमों के रूप में व्यक्त हुई । मॉडर्न फिकशन में (विकास प्रकाशन) जब **प्रो. पाण्डेय** ने

अस्तित्ववादी कामू जैसे कलाकार के साथ मुर्दा सराय की तलुना करके निष्कर्ष निकाला कि यह लेखक अस्तित्ववादी मुहावरों और जनुभूतियों की तरह ज़िन्दगी को संत्रास नहीं मानता, उससे भागता नहीं, उल्टे अपनी ज़िन्दगी के संघर्ष में लौट जाता है ।

मुझे हमेशा यह लगता है कि जिस ढंग और गति से मेरे दिमाग़ में भावों की भीड़ अकुला रही है, व्यक्त होने के लिए उस ढंग से और गति से मेरी लेखनी साथ नहीं दे पाती । इस शाखामृगीय प्रक्रिया में बीच में एकाध वाक्य या शब्द ज़रूर गोल हो जाते हैं और लेखनी अपनी मजबूरी की शिनाख्त के रूप में लुप्त वाक्य या शब्द के लिए डाट-सा छोड़ देती है । मेरी रचना प्रक्रिया की यह बहुत बड़ी त्रुटि है । लेखनी चुप होती है तो दस पंक्तियाँ लिखकर घंटों चुप रह सकती है । कभी-कभी हफ्तों, और चलने लगी तो इस गति से कि पन्ने के पन्ने रंग जाते हैं और साँस लेने रुके तो पाया कि तर्जनी बुरी तरह दुख रही है । शांत निरुद्वेलित, जिसे कोल्डमाइंड कहते हैं उस अवस्था में सोच-विचार कर लिखने की प्रक्रिया मेरी नहीं रहती ।

समय के प्रति लेखक की प्रतिबद्दता युग-बोध के प्रति सचेत अभिज्ञान में निहित है । समय का छंद, सचेत द्रष्टा लेखक की रचनाओं में अपने आप झंकृत होता है । हमारे जीवन का कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो समय से आबद्ध न हो । जीवन के प्रति साक्षी होने का भाव समय के प्रति साक्षी होना ही है । आज भी कथा साहित्य में समय तत्व की अभिव्यक्ति का सर्वमान्य तरीका चेतना प्रवाही धारा (स्ट्रीम ऑफ़ कांससनेस) ही है । मैं वस्तुतः व्याप्त सत्य का उत्तम पुरुष (फर्स्ट पर्सन) ही नहीं समय तत्व का साक्षी और भोक्ता पुरुष भी हूँ । एक आलोचक को मुझसे यह शिकायत रही है कि मेरी कहानियों में प्रायः एक मैं जरूर होता है । यह मैं समय के प्रति मेरी निजी प्रतिबद्धता का साक्षी है, जिसके माध्यम से जीवन के प्रत्येक अक्स को मैं सही ढंग से देखना चाहता हूँ । दूसरी ओर यह मैं इस बात का भी सबूत है कि मैं वर्तमान युग में, जो सामूहिक और यांत्रिक सत्याभासों से परिचालित होने के लिए विवश है, अपने निजी खून मांस से उपलब्ध सत्य कहने का प्रयत्न करता हूँ । यह मैं एक प्रकार से सभी प्रकार के अनुभव खंडों, बिंबों प्रतीकों, चरित्रांशों, तथा संदेहों को सहज, सरलीकृत करके एक स्वाभाविक अंतर्निहित एकता के छंद में ढालने का माध्यम बन जाता है । स्मृति पुनरावर्तन (मेमोरी फ्लैशेज़) की पद्धति में भी समय चक्र का सही संयोजन कथाकार की समय प्रतिबंद्धता या संचेतना का प्रमाण होता है । प्रायः भूत से वर्तमान में अथवा वर्तमान से भूत में संक्रमण कहानियों में एक मामूली घटना लगती है परन्तु समय धारा का उद्वेग या परावर्तन इतनी सहज चीज़ नहीं । यह एक अणु विस्फोट की स्थिति है । इसे ठीक से न सँभालने के कारण कहानी का कलेवर जर्जर अथवा क्षतिग्रस्त हो सकता है । उसके प्रति चेतना इसलिए बहुत ज़रूरी है ।

मेरी रचना प्रक्रिया मेरी है, इसलिए इसके बारे में जवाबदेह भी मैं ही हूँ। होना ही चाहिए । ●

डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव

जन्म : 10.02.1935
गोरखपुर, (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशित कृतियाँ :
कविता :
चौथा शब्द (1993)

आलोचना :
नयी कविता का परिप्रेक्ष्य (1968)
समकालीन कविता का यथार्थ (1988)
कविता का अर्थात् (1999)
मोनोग्राफ़
निराला

सम्पादन :
समकालीन हिन्दी कविता (1990)
समकालीन हिन्दी आलोचना (1998)
सूरदास पुनर्मूल्यांकन (2000)
गोदान पुनर्विचार
मैला आँचल : पुनर्पाठ/पुनर्मूल्यांकन

बहुत वर्षों तक आलोचना के सह संपादक
वर्ष 2000 से आलोचना सहस्राब्दी अंक एक से सम्पादक

सम्मान/पुरस्कार :
रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार सम्मान

सम्प्रति :
लेखन, सम्पादन

शब्द से कुछ हो सकता है, यह भ्रम बना रहे,
यही बहुत है
- डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव

"एक लेखक के लिए अपनी रचना-यात्रा पर वक्तव्य देना एक कठिन काम है । कई बार एक तकलीफ़देह पीड़ा भरा अनुभव । पीड़ा भरा अनुभव इस अर्थ में कि अक्सर अपनी रचना-यात्रा का आकलन करना विफलता के अहसास को, असंतोष के अनुभव को गहरा कर जाता है । एक समय जिसे वह उपलब्धि मान सकता था, आज वही मामूली साधारण

जान पड़ता है । साठ की उम्र छू लेने तक मुझे लगता है कि किया ही क्या है ! अभी तो मानो शुरुआत की है । और ऐसा तो कुछ नहीं कि महत्वपूर्ण से आगे महान कहा जा सके । यों महानता की पूर्वनिर्मित धारणा रचना की दुनिया की कोई ग्रंथि भर हो सकती है । अपनी ज़िन्दगी में ही क्लासिक हो जाना रचनाकार के लिए शायद विडंबना ही हो ।" अपनी रचना-यात्रा के अनुभव को एक वृत्तांत समझने वाले कवि **परमानंद श्रीवास्तव** के जीवन के कई पक्ष हैं – एक कुशल अध्यापक, गंभीर समीक्षक, मूलतः कवि किन्तु इन तीनों पक्षों को एक ही तत्व की प्रधानता मिलती है सृजनात्मकता । परमानंदजी मूलतः कवि है एवम् उत्कृष्ट अध्यापन के द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि "लेखन और अध्यापन के बीच कोई द्वन्द्व या विरोध नहीं है बल्कि उनमें एकत्व स्थापित करके दोनों क्षेत्रों में संतुष्ट हुआ जा सकता है ।"

कवि की आस्था 'सृजन' में है । रचना उनके लिए सबसे मूल्यवान है क्योंकि उसके माध्यम से ही जीवन और समाज को रचनाकार समझता है एवं अभिव्यक्ति देता है । इस समझने और अभिव्यक्ति में शब्द उनके लिए एक हथियार है । यह शब्द क्या है, काव्य रचना प्रक्रिया में इसकी भूमिका क्या है, इस संबंध में उनका अभिमत है "एक काव्य शब्द के बारे में जब तक हमारा भ्रम बना हुआ है कि व्यवस्था की अभेद्य दीवार कुछ खिसकेगी या विचलित होगी तब तक बहुत ग़नीमत है अन्यथा पूँजी और हिंसा जैसी शक्तियाँ ही समाज को प्रभावित करने का ज़रिया रह जाएँगी । अतएव "शब्द से कुछ हो सकता है, यह भ्रम बना रहे, यही बहुत है ।"

परमानंदजी से मेरी एक छोटी सी मुलाक़ात **भारतीय भाषा परिषद** के सभागार में सिर्फ़ पाँच मिनट के लिए थी किन्तु रचना प्रक्रिया से संबंधित प्रश्नों के जवाब जितनी शीघ्रता से उनके द्वारा भेजे गए यह भी उनकी कर्मठता को उजागर करता है । छोटे वाक्य में कवि कर्म को व्यंजित करने की अद्‌भुत कला उनमें मिलती है । उनकी कविता की पंक्तियाँ हैं–

मैं इन्कार करता हूँ
और चुप रहता हूँ
एक चिड़िया ठीक उसी जगह
चक्कर काटती है
तनी हुई रस्सी के आस-पास
चोंच मारती है ।

क्या उसे इस अफ़वाह का पता है
कि मैं हूँ
मैं जो इनकार करता हूँ
और चुप रहता हूँ ? ●

मैं तो हूँ ही सबसे अधिक रचना में
पर समय, समाज की अन्तर्ध्वनियाँ भी

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

हर बार लिखना घटना की तरह का अनुभव होता है । यानी आधी रात अचानक सोचते-विचारते एक ऐसी पंक्ति दिमाग़ में कौंध गयी जो अपने साथ एक पूरा विन्यास भी लाती हो, तो उठे और कहीं किसी जगह टाँक लिया । फिर धीरे-धीरे वह मुकम्मल रूप लेने लगती है । महत्वपूर्ण है शुरू की पहली पंक्ति । यह रचना ही नहीं, आलोचना के साथ भी होता है । लिखना टलता जा रहा है । संपादक के पत्र पर पत्र आ रहे हैं । वायदा है कि अमुक तिथि तक लेख दे देना है । सारे नोट्स ले लिए । सारा ढाँचा मन में बना लिया । पर जब तक पहली पंक्ति मन में ठीक-ठीक जमी नहीं लिखना स्थगित ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

रचते समय बेशक तनाव बना रहता है । कभी लगे कि नयी बात ढंग से कह दी गयी है तो तुरंत एक तरह की स्फूर्ति भी । पर रचना समाप्त कर लेने पर तो लगता है जैसे कोई नयी मुक्ति है ।

परिवेश और रचना के अंतः संबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

रचते समय भी मैं अपने को इतना अलग कटा हुआ आस-पास से महसूस नहीं करता । 'मैं' तो हूँ ही सबसे अधिक रचना में । पर समय, समाज की अंतर्ध्वनियाँ भी ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

बेशक रचना काफ़ी समय चाहती है । हड़बड़ी में हिसाब-किताब चुकता करने जैसी चीज़ तो नहीं है वह । आलोचना भी मेरे लिए रचना है पर आलोचना लिखते समय बहुत कुछ देर तक पकता रहता है मन में । लगातार पढ़ा जा रहा है । विचारों की आवाजाही । काट-छाँट । संघर्ष अपने से ही । आलोचना को भी इसीलिए मुक्तिबोध आत्मसंघर्ष के दायरे में रखते थे ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

आकस्मिकता भी एकदम ऐसी नहीं कि तुरंत विचार आया, लिख लिया । यह गीत जैसी विधा के लिए तो ठीक है । पर कहानी कविता या अन्य विधाओं के लिए नहीं । महत्वपूर्ण रचनाएँ तो कई-कई प्रारूप की माँग करती ही हैं । मुक्तिबोध की और दुनिया के तमाम महत्वपूर्ण लेखकों की पाण्डुलिपि देखें – कितनी काट-छाँट है । जैसे अपने ही लिखे प्रारूप से जिरह चल रही हो, रचनाकार लड़-झगड़ रहा हो ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

यह तो असमर्थता ही कही जाएगी और इसकी पीड़ा महत्वपूर्ण लेखकों को भी कई बार होती ही है । आखिर सभी रचनाएँ एक सी महत्वपूर्ण तो होती भी नहीं । रचना प्रक्रिया का भी यह अनुभव स्वाभाविक हिस्सा है । यह दावा तो व्यर्थ ही है कि हम जैसा चाहते

हैं तुरन्त बेरोक लिख जाते हैं । तुरन्त बेरोक लिखा हुआ उसी क्षण निरर्थक भी हो सकता है ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

यह भी होता ही रहता है । पर बहुत चिन्ता नहीं होती क्योंकि 'नया' 'उपयुक्त' शब्द देर-सबेर मिल जाता है ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

मैं मन की अवस्थाओं को इस तरह विभाजित करके नहीं देखता । भीतरी-बाहरी मन सब एक निरन्तर द्वन्द्व में होते हैं, एक साथ होते हैं । एक दूसरे से संवादरत । मिलते । बतियाते ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा-कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संशिलष्ट प्रक्रिया है जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ? कृपया अपनी रचना प्रक्रिया के संबंध में विस्तार से लिखें ।

आप मेरे यहाँ आएँ तो देखेंगी कि एक तख़्त है – किताबों पत्रिकाओं से भरी । सलीक़े से इसलिए, कि मेरी एक बेटी हर बार ठीक कर जाती है । उससे लगी आराम कुर्सी है । मैं हमेशा यहीं हूँ पढ़ते-लिखते-सोचते-विचारते । इधर के बीस वर्षों में जो कुछ लिखा है – इसी जगह से जुड़कर । सालभर के लिए बर्दवान विश्वविद्यालय में था, अतिथि भवन में । खूब एकांत था । विपुल प्रकृति थी । लड़के-लड़कियाँ छात्रावासों के हर समय दृश्य पर । लिखना कठिन हो रहा था । एक बार लखनऊ में **कुँवरनारायणजी** से मैंने चर्चा की । मैंने कहा कि लिखने के लिए तो गोरखपुर उसी घर में उसी तख़्त के पार्श्व में होना ज़रूरी लगता है । उन्होंने स्वीकार किया कि वे जिस मेज़ पर लिखते रहे हैं – उसके साथ जैसे कोई रहस्य जुड़ा हो । वहीं लिख सकते थे । तो एक तो यह बात ध्यान देने की है ।

अक्सर एकदम सुबह रचना की शुरुआत करना अच्छा लगता है । कई बार तो एक बार ही रचना पूरा रूप ले लेती है । और बहुत कुछ रचनाप्रक्रिया के बारे में बता सकता हूँ पर लगता है वह एकदम निजी जैसी चीज़ है तो उसे बहुत बखानना हास्यप्रद लगेगा । ●

डॉ. रणजीत

जन्म : 20.08.1937
कटार, भीलवाड़ा (राजस्थान)

प्रकाशित कृतियाँ

कविता :

इतिहास का दर्द
अभिशप्त आग
खतरे के कगार तक

समीक्षा :

हिन्दी की प्रगतिशील कविता
प्रगतिशील कविता के मील पत्थर

सम्पादन :

प्रतिश्रुत पीढ़ी
पर्यावरण और विकास
विश्वकाव्य के विद्रोही स्वर
खामोशी भयानक है
समकालीन कविता के बदलते
सरोकार

पुरस्कार/सम्मान :

सोवियतलैंड नेहरू अवार्ड (1971)
विशिष्ट साहित्यकार सम्मान (1984)
बिहार राजभाषा पुरस्कार (1991)
अति विशिष्ट गौतम बुद्ध सम्मान (1997)

रचना-कर्म मेरे लिए एक सचेतन सोची समझी हुई प्रक्रिया है

हिन्दी कविता की प्रगतिशील धारा के कवियों में **डॉ. रणजीत** का एक विशिष्ट स्थान है। पंजाबी माता-पिता की संतान **डॉ. रणजीत** का जन्म राजस्थान में हुआ लेकिन पंजाबियत एवम् राजस्थानियत से वे हमेशा अछूते रहे। उनका और उनकी कविता का सरोकार मानवीय संवेदना रही। उत्पीड़ित जन की वेदना ने उनकी कविताओं में अपना स्वर पाया है। केवल अपनी कविताओं में ही नहीं **प्रगतिशील लेखक संघ** के सतत संघर्ष में भी उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही है। कविता जब जनान्दोलन का रूप लेती है तो उसका फलक भी विस्तृत होता है और प्रभाव भी। **डॉ. रणजीत** की कविताओं में जनान्दोलन का क्षोभ है और यह क्षोभ उनकी नई कविताओं में और भी मुखर हो उठा है। "कविता मेरे सामने अवचेतन का क्रन्दन नहीं, अहम् का विस्फोट नहीं, अपने या किसी के मनोरंजन की रस प्राप्ति की चीज़ नहीं, अपनी सामाजिक अनुपयोगिता के विरुद्ध अपने आपको प्रमाणित

करने का प्रयत्न नहीं, एक सजग सामाजिक कर्तव्य है अपने आस-पास के संसार को और साथ ही साथ खुद आपको अपने सपनों के अनुकूल ढालने का प्रयत्न है ।" अतएव कविता उनके लिए एक ऐसी कला है जो मौजूदा दुनिया के उन प्रमुख अन्तर्विरोधों से उपजी है जो हमारे वर्तमान युग की वास्तविकता का स्वरूप स्पष्ट करती है :—

तुम प्रकृति के सबसे समझदार बेटे हो
उसी की तरह व्यवहार करो इन सबके साथ
और इनके साथ-साथ
अपनी इस नैसर्गिक माँ के साथ भी
इसे जीतने का दम्भ छोड़कर
इसे समझो
इससे सीखो ।

मनुष्य ही अपने तमाम रूपरंगों और ढंगों में डॉ. रणजीत की कविताओं का विषय है । इस मनुष्य के सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष के पक्ष को जब-जब कवि अपने कविता रूपी साज पर सँभालता है, एक दर्द उसके भीतर, उसके आस-पास जमने लगता है । दर्द बढ़ता है और उसके दर्द की अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं हो पाती क्योंकि वह जानता है कि क्या कोई हमारे दर्द को भी समझेगा ? नतीजा गीत ओछे हो जाते हैं किन्तु तब भी रचना कर्म जारी रहता है "रचना कर्म मेरे लिए एक सचेतन सोची समझी हुई प्रक्रिया है ।" प्रक्रिया से प्रयोजन है "कविता मेरे लिए आज के आधे-अधूरे मनुष्य को एक पूरा मनुष्य बनाने का प्रयत्न भी है ।"

अगर कभी ऐसा हो
कि मेरा सत्य संघर्ष की शक्तियाँ खो बैठे
टूट जाय
और झूठ की तरह निष्प्राण होकर राह पर गिर पड़े
तो निरन्तर संघर्षशील सत्य को वहन कर
मेरी राह पर मुझसे और आगे बढ़ने वालो!
मेरे निष्प्राण सत्य की छाया से अभिभूत मत हो जाना
नहीं तो मेरी अतृप्त जिज्ञासाओं की भटकती हुई आत्माएँ और भटक जायेंगी
उसके मोह को काटकर आगे बढ़ जाना ।

वरिष्ठ कवि **मृत्युंजय उपाध्याय** की कुछ पंक्तियों को यहाँ उद्धृत कर रही हूँ । "आप भी इतिहास की राह पर एक प्रोमेथ्यूस हैं— जिनकी कविता सुनकर मित्र अभिभूत हो उठते हैं और कविता सामान्य होते ही उनमें से एक अचानक कहता है 'यार रणजीत! तेरी आग तो चुरायी हुई नहीं है, यह पैदा हुई है ज़िन्दगी के संघर्षों के बीच से ।' शब्दों के मुक्ति सैनिक डॉ. रणजीत के लिए कविता एक सचेतन सृजन है । ●

रचते समय मेरे सामने मेरी अनुभूति होती है,
मेरे विचार भाव, कल्पनाएँ होती हैं और वे सब के सब, बिना अपवाद के मेरे अहम्
और मेरे परिवेश की अन्तर्क्रियाओं से, अर्न्तसम्बंधों से ही प्रसूत होते हैं
ऐसे में केवल 'मैं' कहने की कोई संगति नहीं है

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

वैसे तो गाँव में चौथी कक्षा में पढ़ते हुए, वर्ष 46-47 में उस समय मेवाड़ रियासत में चल रहे प्रजामंडल आन्दोलन से प्रभावित होकर शायद मैंने जीवन की पहली तुकबन्दी तैयार की थी (लिखी थी कहना तो ठीक नहीं होगा) जिसमें मेवाड़ के जागीरदार वर्ग को होशियार किया गया था और प्रजा की ओर से प्रतिरोध में 'अहिंसा की तलवार उठाने की वात कही गई थी' । पर कुछ लिखना है यह अनुभूति दसवीं कक्षा में पढ़ते हुए सन् 52 में रायकृष्णदास और दिनेश नंदिनी चोरड़िया के गद्यगीत तथा कविगुरु रवीन्द्रनाथ टाकुर की गीतांजलि का हिन्दी अनुवाद पढ़कर ही हुई और मैंने कुछ गद्यगीत लिखे, जिनमें कैशोर प्रेम-कल्पनाओं का घालमेल रहस्यात्मक अनुभूतियों के अनुकरण के साथ किया गया था और उनमें से कुछ 52-53 विद्यालय पत्रिका में भी छपे । यही मेरी उस काव्य रचना का प्रारंभिक उत्स था, जो व्यवस्थित रूप में बी. ए. में पढ़ते हुए सन् 56-57 में प्रारंभ हुई ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

हाँ, लिख लेने के बन्द एक तृप्ति, एक तनाव शून्यता तो महसूस होती है, पर लिखते समय कोई विशेष तनाव रहता है, ऐसा मैंने अनुभव नहीं किया । कभी-कभी तो एक विचार, भाव या विज़न के उन्मेष में बड़े उल्लास के साथ लिखने बैठने की स्थिति भी आती है । फिर कविता और गद्य लेखन में भी अन्तर रहता है । कविता लिखते समय कभी थक़ान की अनुभूति नहीं होती, जबकि कहानी, समीक्षा आदि लिखते समय बीच-बीच में थक जाता हूँ और कई बैठकों में एक रचना लिखी जाती है ।

परिवेश और रचना के अंतःसंबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

रचते समय अपने सामने केवल मैं था, यह कहना तो शायद सही नहीं है । रचते समय मेरे सामने मेरी अनुभूति होती है, मेरे विचार भाव, कल्पनाएँ होती हैं और वे सब के सब, बिना अपवाद के मेरे अहम् और मेरे परिवेश की अन्तर्क्रियाओं से, अर्न्तसम्बंधों से ही प्रसूत होते हैं, ऐसे मे केवल 'मैं' कहने की कोई संगति नहीं है ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

दोनों बातें सही हैं, अलग-अलग रचनाओं के लिए । कुछ कविताएँ एकाएक स्वतःस्फूर्त सी एक ही उन्मेष या आवेश में लिख दी जाती हैं और कुछ अवधारणा के बाद लम्बे चिन्तन मनन के बाद अभिव्यक्ति पाती हैं ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

मेरी ज़्यादातर कविताएँ एक कौंध में नहीं, चिन्तन मनन के बाद लिखी गई हैं, या यों कहें, एक कौंध में उनका पहला प्रारूप लिख दिया जाता है और फिर कई बार महीनों (और कभी-कभी बरसों) बाद भी जब उस प्रारूप को सामने रखकर कविता को मैं अन्तिम रूप देता हूँ ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

नहीं, ऐसी अवश स्थिति मैंने अनुभव नहीं की, कि लिखना कुछ चाहो और लिख कुछ अलग जाओ । रचनाकर्म मेरे लिए एक सचेतन, सोची समझी हुई प्रक्रिया है, इसीलिए मैंने अपने प्रथम कविता संकलन ये सपनेः ये प्रेत की भूमिका (दृष्टिकोण) में तथाकथित स्वयंस्फूर्त कवियों से अपने को अलग करते हुए अपने को 'कवि' नहीं कविता 'लेखक' कहा था । क्योंकि कविता मेरे लिए 'अवचेतन का विस्फोट' नहीं, एक सचेतन सृजन है ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

जहाँ तक शब्दों का सवाल है, यह अनेक बार होता है कि कविता के पहले या दूसरे प्रारूप

में प्रयुक्त कोई शब्द बाद में अनुपयुक्त लगता है और कोई नया शब्द उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए ज़्यादा सही लगता है, तब मैं कविता के संकलन रूप में छप जाने के बाद भी वह शब्द बदल देता हूँ । इस अर्थ में मैं कविता की मौन-शुचिता में विश्वास नहीं करता । उदाहरण के लिए मैंने अपनी कविता नरवानर में लिखा था –

> इसके ही हैं हाथ, स्वयं में यह सदबुद्धि जगाए
> संरचना के गुणसूत्र बदल, खुद को इन्सान बनाए ।

पर छपने के तीन वर्ष बाद अब लगा कि 'गुण-सूत्र' तो क्रोमोजोम का हिन्दी पर्याय है, मेरा अभिप्राय तो जेनेटिक इंजिनियरिंग से है, जिसके लिए 'गुणसूत्र' की जगह 'संरचना के वंशाणु बदल' कहना ज्यादा सही होगा और मैंने कविता के मूल पाठ में यह परिवर्तन कर लिया ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतम रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

हाँ, क्यों नहीं । जब हमारा अवचेतन हमारे जीवन को इतना प्रभावित करता है तो रचना कर्म को क्यों नहीं प्रभावित करेगा !

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ?

न मैं कोई रहस्यवादी कवि हूँ, न मेरी रचना-प्रक्रिया रहस्यपूर्ण है । सीधा सादा, अपनी बात को सटीक ढंग से लोगों तक पहुँचाने की कोशिश करने वाला कवि हूँ और मेरी रचना-प्रक्रिया भी सीधी-सादी है । कभी कोई भाव, विचार कल्पना आती है, कभी उसे काग़ज़ पर नोट कर लेता हूँ— जैसी भी अटपटे या सधे हुए ढंग से वह लिखी जाए । कभी नोट होने से रह भी जाती है । कभी कई दिनों बाद वह विचार, कल्पना, बिम्ब, उपमा फिर मन में आ जाती है और कभी-कभी खो भी जाती है. । जब कभी मन शान्त, स्थिर होता है, कुछ लिंखने का मूड बनता है, अपनी रफ़ ढंग से आधी अधूरी लिखी हुई वे पर्चियाँ निकालता हूँ और उनमें कुछ की पूरी कविताएँ बनाकर फ़ेयर कर लेता हूँ । ये भाव, विचार, कल्पनाएँ कभी प्रत्यक्ष जीवन के अनुभव में से सामने आती हैं और कभी अखबार पढ़ते हुए भी आ जाती हैं, यहाँ तक कि कोई फ़िल्म देखते हुए या टी.वी. का कोई कार्यक्रम देखते हुए भी । अपनी नवप्रसूत कविताओं को मैं कई-कई बार पढ़ता हूँ, कुछ शब्द या वाक्यांश बदलता हूँ और जब उस प्रारूप से संतुष्ट हो जाता हूँ तो उसे डायरी में नोट कर लेता हूँ । बस! यही मेरी रचना-प्रक्रिया है । ●

शलभ श्रीराम सिंह

जन्म - 5.10.1938
ग्राम - मसोढ़ा, फ़ैजाबाद (उ.प्र.)

निधन - 22.04.2000

प्रकाशित कृतियाँ :
कल सुबह होने से पहले
अतिरिक्त पुरुष
नागरिकनामा
राहेहयात
निग़ाह-दर-निग़ाह
अपराधी स्वयं
ध्वंस का स्वर्ग
उन हाथों से परिचित हूँ मैं
उँगली में बँधी हुई नदियाँ

शलभ जी पर एक
आलोचनात्मक पुस्तक कविता की पुकार ।
सम्पादक :
डॉ. रामकृपाल पाण्डेय

मैं अपनी पीढ़ी के उन कवियों में से हूँ जिन्होंने हताशा और संत्रास को सिर झुकाना न तो स्वीकार किया है और न ही हवा का रुख पहचान कर संत्रस्त और हताश होने का अभिनय किया । कहने की आवश्यकता नहीं कि *युयुत्सावाद* की घोषणा के पीछे यही कारण संभवतः विद्यमान रहा है । -शलभ श्रीराम सिंह

युयुत्सावाद का प्रवर्तन कोलकाता के तीन हिन्दी कवियों ने किया : छविनाथ मिश्र, नीलम श्रीवास्तव और शलभ श्रीराम सिंह. । शलभजी साठोत्तरी हिन्दी कविता के अन्तर्गत युयुत्सावाद के अग्रणी कवि के रूप में चर्चित हुए. । उनसे से मेरा परिचय तब हुआ जब मैं छायावादोत्तर कविता पर शोध कर रही थी । सन् 85 की प्रथम भेंट में उनका यह पूछना कि हिन्दी मे मुझसे बड़ा कौन कवि है भला ? बता सकती हो ? आँखें छत की

दीवार पर लगी हुई, एक दार्शनिक मुद्रा में खुद ही हँसकर उन्होंने उत्तर दिया था – 'कबीर, तुलसीदास, निराला और फिर मैं शलभ श्रीराम सिंह ।' मैं चुप थी ।

क्या यह कवि की अहम्मन्यता है या कवि का अगाध आत्मविश्वास ? शलभ जी की कविताओं में निश्चित ही *अनुभूति की ताज़गी* एवं *भाषा का नयापन* है किन्तु यायावरी प्रवृत्ति ने जैसे उन्हें एक स्थान पर टिकने नहीं दिया उसी प्रकार एक अस्थिर मन ने उनकी रचनात्मकता को कहीं न कहीं अस्थिरता भी दी । उनकी एक कविता की पंक्तियाँ हैं -

उठो
और खुद को
अपने अन्दर से निकालो
सारी दुनिया में फैल जाने के लिए
हँसी और धूप और हवा की तरह

सरस्वती पूजा 2001 के अवसर पर हठात् शलभजी का कलकत्ता लौटना सामरथ कार्यालय में आना, निराला के चित्र की ओर ताकते हुए पंक्तियाँ गुनगुनाना *दुःख ही जीवन की कथा रही, क्या कहूँ जो नहीं कही* पहली बार एक स्थिर चित्र उनकी आँखों में दिखलाई दिया था । शलभजी खुद को अपने अन्दर से क्यों नहीं निकाल पाए, सारी दुनिया में फैल जाने के लिए जबकि उनका विश्वास था कि कविता के भीतर मुक्ति के अहसास को ज़िन्दा रखने का प्रयत्न करनेवाला कवि ही वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में मानव-मुक्ति की कविता का कवि बनने का अधिकारी होता है ।

यायावरी प्रवत्ति उन्हें बेलूर से विदिशा ले गई । अधिकांश प्रकाशन उनका विदिशा से ही हुआ । सचमुच शलभजी को कोई बाँध नहीं पाया । उनकी बेबाक हँसी और दो टूक बातों ने भी उनको विवादों के घेरे में खड़ा किया होगा । शलभ जानते थे कि किसी भी क्षण गुज़रते हुए समय का हर रेला दारुण यातना के क्षण प्रस्तुत कर सकता है । सचमुच कितना कठिन था कवि के लिए पठार और समुद्र के बीच पसरे भू-भाग में एक ठाँव को ढूँढ़ना और बैठकर ज़िन्दगी की सच्चाइयों को उकेरना । जगह दर जगह की भटकन बतलाती है कि *"वे किसी भी जगह किसी एक घाट से नहीं बँधे । उन्होंने शायद किसी से बँधना चाहा भी नहीं । लेकिन जब उन्होंने किसी से बँधना चाहा, वे उससे तब तक बँधे रहे, जबतक उनकी अपनी इच्छा थी ।"*

अपनी अधिकांश प्रकाशित - अप्रकाशित रचनाओं की पाँडुलिपियाँ उन्होंने मेरे पास छोड़ रखीं थीं । अचानक एक दिन प्रकट हुए और कहा कि आज मुझे मेरी सम्पत्ति लौटा दो । रचना-प्रक्रिया से संबंधित यह छोटा सा साक्षात्कार उनसे मैंने तभी लिया था, जिसमें संशोधन करने का उनका आग्रह भरा पत्र भी मुझे मिला था किन्तु 22वीं अप्रैल 2000 को अपने जन्मस्थान मसौढ़ा जिला फैज़ाबाद में उन्होंने अपनी शेष यात्रा के लिए ठाँव ढूँढ़ ही लिया – *अपने सूर्यास्त की ओर लौटते हुए ।* ●

कुछ लिखना है यह अनुभुति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ।

बचपन में अपने पड़ोसी बच्चों और कक्षा के छात्र सखाओं से पृथक मैं अन्तर्मुखी किस्म का लड़का था । लोगों से ज्यादह घुलने-मिलने की आदत मुझमें नहीं थी । आस-पास जो जैसा घट रहा था, उसे ज्यों का त्यों स्वीकार लेने की प्रवृत्ति मुझमें नहीं थी । नतीजे के तौर पर घर-परिवार और गाँव-समाज की पुरुष प्रधान व्यवस्था और उस व्यवस्था के पोषकों की सर्वस्तरीय ज़्यादतियों के प्रतिवाद के रूप में मेरी कविता का जन्म हुआ । उस प्रतिवाद के केन्द्र में माँ के साथ किया जाने वाला पिता का व्यवहार प्रमुख रहा । थोड़ी-बहुत यही स्थिति मेरे पास-पड़ोस के घरों में रहनेवाली उन तमाम औरतों की थी जो पति को परमेश्वर मानकर उसके हर अन्याय-अत्याचार को भाग्य का लेख मानकर जीने को विवश थीं । पिता माँ को स्त्री होने की वह हर सज़ा देने में विश्वास करते थे जो उस वक्त के किसी ठाकुर समझे या कहे जाने वाले व्यक्ति के लिए ज़रूरी थी । साथ ही सवर्णों द्वारा छोटी जाति के लोगों का हर मुमकिन शोषण और उनके साथ किया जाने वाला अमानवीय व्यवहार भी मुझे मुखर विरोध की दिशा में आगे बढ़ाने की भूमिका निभाता रहा ।

कहा जाना चाहिए कि माँ की वजह से *स्त्री* मेरी कविता की पहली विषय वस्तु बनी । पेड़-पौधों और अन्यान्य वनस्पतियों के प्रति उनका सहज लगांव मुझे प्रकृति की ओर ले गया

और मेरे आस-पास के बेबस-निरीह लोगों की दुर्दशा का बोध मुझमें विद्रोह की चेतना जाग्रत करने वाला साबित हुआ । इस प्रकार स्त्री-प्रकृति और विद्रोह मेरी कविता के केन्द्रीय विषय बन गए ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्सड महसूस करता है यानी तनावरहित । पर रचते समय ? आपने क्या महसूस किया ?

रचना की समाप्ति पर मैंने स्वयं को *रिलैक्सड* महसूस करने के बजाय प्रायः थका हुआ और शिथिल पाया है । रचते समय (यानी कुछ लिखते समय) मैंने हमेशा स्वयं को एक अभूतपूर्व उत्तेजना से परिपूर्ण देखा है ।

परिवेश और रचना के अंतः संबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है । किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति)

रचते समय अपने सामने सदैव मैं ही मैं रहा हूँ । कभी परिवेश के रूप में, कभी देश-दुनिया-समय और समाज के रूप में । रचना के क्षणों में सब कुछ सब कुछ मुझमें समाहित प्रतीत हुआ । रचना के रूप में मुझमें समाता और मुझसे प्रकट होता हुआ बार-बार ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

रचनाकार को यदि आप समय और समाज का बैरोमीटर मानतीं हों तो अनुभव को पारे के रूप में स्वीकारने में आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए । उस स्थिति में समय और समाज का ताप और दाब जैसा होगा वह उसी के अनुसार उठेगा और गिरेगा । समय में अपनी चेतना को अवस्थित कर देने वाले रचनाकारों को समय की गति के अनुसार काम करना होता है, इसलिए वे ज़्यादा सोच-विचार की स्थिति में नहीं होते । उनका सारा रचनाकर्म इल्हामी पद्धति से होता है । समाज की गति चूँकि समय की गति से धीमी है इसलिए समाजकेन्द्रित चेतनावाले रचनाकार को सोचने-विचारने-काटने-छाँटने की सुविधा रहती है । मैं दोनों प्रकार की रचनाप्रक्रियाओं से गुज़रता रहा हूँ इसलिए मेरे संदर्भ में दोनों स्वाभाविक हैं ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

ऐसा प्रायः हर रचनाकार के साथ होता है लेकिन कभी-कभी कुछ घटनाएँ, कुछ दृश्य, कुछ अनुभूतियाँ स्मृति में कौंध की शक्ल में ही उपस्थित होती हैं और उनका उसी क्षण कलमबन्द हो जाना अनिवार्य हो उठता है । रचनाकार ने शिथिलता बरती और रचना हमेशा-हमेशा के लिए तिरोहित हुई !

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते। यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

रचना के समय अव्यवस्थित चित्त, आत्मानुशासन रहित, अति स्वछन्द और अपर्याप्त शब्द साधना वाले रचनाकारों के साथ ऐसी दुर्घटनाओं का होना स्वाभाविक है । इसके विपरीत व्यवस्थित चित्त, आत्मानुशासन से युक्त और ध्यानकेन्द्रित रचनाकार का पहला शब्द ही रचना के अन्त का संकेत देने लगता है ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था, उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

हाँ, 1992 में एक प्रबन्धकाव्य की रचना करते समय इस तरह की दुर्घटनाएँ मेरे साथ कई बार घटीं । इसका परिणाम यह हुआ कि वह प्रबन्ध काव्य आजतक नहीं लिखा जा सका और न भविष्य में उसके लिखे जाने की संभावना है ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

अवचेतन और चेतन दोनों रचनाकर्म को प्रभावित करते हैं । *सादृश्यता* और *प्रतीति* के कारण ही कविता में प्रतीक, मिथ, बिम्ब और उपमा आदि की सृष्टि संभव हो पाती है ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीज़न से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ?

मन मस्तिष्क की एकाग्र सक्रियता अनुभूति को जब शब्दबद्ध करती है तभी रचना प्रक्रिया की स्थिति का निर्माण होता है । एक तरह की बेहद नफ़ीस किस्म की मर्मरी संगतराशी का सा मामला है यह । जो जितनी बेहतर कल्पनाशीलता के सहारे अपने काम को अंजाम देता है, उसकी रचना उतनी ही सुन्दर, अर्थगर्भ, आकर्षक, प्रभावपूर्ण और कभी-कभी अभिनव और अद्वितीय होकर अनुकरणीय हो उठती है । तब संसार एक ट्रेण्डमेकर पोयट से साक्षात्कार करता है । अपने इसी रूप में रचना-प्रक्रिया शायद वह सब कुछ है जिसका ज़िक्र आपने अपने प्रश्न में किया है । ●

ध्रुवदेव मिश्र पाषाण

जन्म : 09.09.1939
इमलिया, देवरिया (उ. प्र.)

प्रकाशित कृतियाँ :
कविता :
एक शीर्षकहीन कविता व पाँच अन्य कविताएँ
बन्दूक और नारे
मैं भी गुरिल्ला हूँ
विसंगतियों के बीच
कविता तोड़ती है
धूप के पंख
खण्डहर होते शहर के अँधेरे में
वाल्मीकि की चिंता
चौराहे पर कृष्ण
ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की कुछ कविताएँ

सम्पादन :
सूरदास एक सान्दर्भिक पुनरावलोकन
महाप्राण निराला
खेल खेल में

पुरस्कार/सम्मान :
विभिन्न संस्थाओं से सम्मानित

इरादे समय की कोख से जनमे
समय संकल्पों की उँगली थाम कर दौड़ा

बचपन में गुरु के मुख से निःसृत वाणी **तुम्हें कविता लिखनी है ध्रुवदेव**, पाषाणजी की रचना-यात्रा का आरम्भ बिन्दु है । अपनी रचना यात्रा का आकलन करते हुए समय की कोख से जन्मे इरादों और संकल्प की उँगली थामकर सृजन धर्म में प्रवृत्त रहने की बलवती इच्छा कवि को आत्मविभोर कर देती है । एक समय जो कथन प्रेरणा था वही आज ज़िंदगी का पर्याय बनकर हर पल हृदय में कुछ लिखते रहने की कसक है । साठ की उम्र पार करने पर भी जिन्हें यह लगता है कि अभी और अच्छी रचनाओं को जन्म लेना

है उनके भीतर से किन्तु कब यह तो कवि नहीं जानता —

मैं कवि हूँ
मेरी नसों में प्रवाहित जीवन रस उस धरती का है
जिसकी नाभि का अमृत कभी नहीं चुकता ।

कवि की आस्था सृजन में है । सृजन यानी कविता में । यह जानकर भी हर बात कविता नहीं होती पर हर कविता एक बात ज़रूर है । दर्द की भी एक हद है । दर्द की सीमा का अतिक्रमण ही दवा है । समय और परिवेश, समय और समाज और उनके यहाँ समकालीन सरोकारों के संग संस्कारों की स्थितियों को समझते हुए शब्द कभी नहीं थकते, कहीं नहीं हारते क्योंकि उनका विश्वास है कि परमाणु युग में भी शब्दों की शक्ति बरकरार है एवं कविता की आँखों के बग़ैर आदमी के हाथ और पाँव की दिशा को पहचानना मुमकिन नहीं है । रचनाओं के सृजन से कवि एक ऐसा आलोक विकीर्ण कर देने को प्रयत्नबद्ध है जिसमें मनुष्य-मनुष्य को पौरुष का आश्रय दे क्योंकि एक चिनगी में भी ज्वाला का सामर्थ्य निहित होता है एवम् सिंधु का मंथन कभी भी व्यर्थ नहीं होता । कवि कुछ दृश्यों को पकड़कर कहता है —

कोकिल के स्वर में गीत ढूँढ़ने से अधिक सार्थक है
आदमी के दर्द को आवाज़ देना
और सन्नाटे को नूपुर पहनाने से अधिक ज़रूरी है
कसमसाती जिन्दगी को युद्ध की गति और
सृजन की लय देना ।

सृजन की लय की समाधि कब, कहाँ और कितने वर्षों में टूटेगी, वह कुछ भी नहीं जानता । जानता है तो सिर्फ़ इतना-समाधि टूटने पर कविता चमत्कार नहीं करती । कविता चकमक पत्थर से भी नहीं फूटती । कविता लँगड़े की बैसाखी भी नहीं है । कविता है ज़िन्दगी की हर साँस । हर साँस की हार-जीत होती है और इसमें कविता भी हाँफती-टूटती है क्योंकि मनुष्य की रफ़्तार ही है कविता । पेशे से अध्यापक किन्तु मूलतः कवि किन्तु दोनों पक्षों में सृजन मूल तत्व है । दोनों पक्षों में ईमानदारी के कारण संतोष है उनमें । रचना-प्रक्रिया पर बातचीत करते हुए एक संवेदनशील रचनाकार के अन्तस से उजागर होने वाली सर्जनात्मक कौंध अब भी मेरे मानस को आन्दोलित किए है । ध्रुव की तरह अटल, पाषाण की तरह कठोर नहीं, करुण हृदय वाले कवि का सच इन पंक्तियों से उजागर होता है —

मैं जानता हूँ
अपनी ही देहरी पर बीन न बजा पाने वाले
सँपेरे की बेचारगी
मेरी यात्रा की रेखाएँ टेढ़ी तो हैं
मगर अनजान नहीं हैं प्रकाश की गति से ।●

आदर्श स्थिति प्रेरणा को
अभिव्यक्ति के क्षणों में ढालने की होती है
और वह आत्मसाक्षात्कार यानी समाधि में
पहुँच जाने की होती है

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

यह प्रश्न ऐसा है जिसका उत्तर देना सहज नहीं । यूँ भी सीधा उत्तर देना भी ठीक नहीं होता ।

1949 के आस-पास की घटना है । मैं अपने पिता के साथ अनन्त महाविद्यालय के प्रांगण में आयोजित एक सभा में गया । वहाँ पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँधी कहे जाने वाले बाबा राघवदास का भाषण था । उन्होंने अपने भाषण में देशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया । इस सभा में हमारे साथ प्राथमिक शिक्षा के मेरे गुरु पं. कन्हैयालाल शुक्ल भी थे । घर लौटकर आने के दूसरे दिन मैं अपने एक शुभेच्छु के बरामदे में बैठा था एवम् बाबा राघवदास के बतलाए गए प्रसंगों को मुखर भाव से दोहराने में तल्लीन था । पं. कन्हैयालाल शुक्ल और पारिवारिक शुभेच्छु शिवदास मिश्र कब मेरे पास आकर खड़े हुए, मुझे पता नहीं । लगभग दस मिनट तक बाबा राघवदास का भाषण ही मैं बोलता रहा । आदरणीय शुक्लजी ने मेरे मस्तक पर अपना हाथ रखकर आदेश के स्वर में कहा -'तुम्हें कविता लिखनी है ध्रुवदेव' । तुम्हारा जन्म कविता लिखने के लिए हुआ है । लिखा करो । संभवतः कक्षा चार का विद्यार्थी था मैं । विद्यालय के एक शिक्षक की विदाई थी और पहली कविता उनके सम्मान में लिखी । आज पंक्तियाँ याद नहीं हैं । गुरु के प्रति सम्मान का भाव रचना का कारण बना ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

मुझे मानना चाहिए कि रचना की पहली कौंध चाहे जितनी भी पुलकित और रोमांचित करे, रचना के रचे जाने के क्षण शब्दशः समाधि के यानी अपने को विस्मृत कर देने के क्षण होते हैं । समाधि की स्थिति मेरे साथ रचना के प्रत्येक क्षणों में रही है । तयशुदा विषयों पर लिखना मेरे लिए कभी संभव नहीं हुआ या कहूँ नियमित रूप से या मनचाहे समय पर कविता लिखना मेरे लिए असंभव रहा है । रचना का अंतिम रूप कुछ आयास की माँग अवश्य करता है किन्तु उसकी प्रक्रिया अवचेतन से चेतन में कब उतरेगी, यह मेरे वश में कभी नहीं रहा । यही कारण है कि पिछले चार वर्षों में कोई नई कविता नहीं लिख पा रहा हूँ । अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं अपनी एक कविता का उल्लेख प्रासंगिक मानता हूँ । वह रचना है – **वाल्मीकि की चिंता** । जब से मैंने कविता लिखने की दुनिया में क़दम रखा तब से चाहा कि राम और कृष्ण के बारे में लिखूँगा । 1950 से 1990 तक यह इच्छा – इच्छा बनी रही । कई किताबें छपीं लेकिन राम और कृष्ण पर कुछ भी लिख नहीं सका । परन्तु 1990 में कलकत्ता से पत्नी के साथ गाँव जाते हुए ट्रेन में कुछ पंक्तियाँ मन में कौंधी । क़ाग़ज पर भी उतरीं -

राम
तुमने

बाँधा तो था
समुद्र पर सेतु
लंका से अयोध्या तक
रक्ताश्रु प्रवाह पर
मर्यादा का बाँध ।

गाँव पहुँचने के बाद चाहत जगी कि अब यह कविता पूरी कर दी जाए पर हाय री कविता! अपनी ही शर्तों पर उसे आना था । दुर्गापूजा की छुट्टी का एक महीना गाँव में बीता, एक पंक्ति भी आगे नहीं बढ़ी । डायरी में लिखी गई उपरोक्त पंक्तियाँ भी मेरे द्वारा काट दी गईं । पत्नी क्षुब्ध हुई । कुछ समय बाद हम कुशीनगर गौतम की निर्वाण भूमि गए । वहाँ से लौटने पर दूसरे दिन मुझे ऐसा लगा कि विवश करके मुझे लिखने के लिए कोई बैठा रहा है और मैं भी लिखने बैठ गया । लगभग एक सप्ताह में **वाल्मीकि की चिंता** कविता पूरी हुई । लगा जैसे निचुड़ गया मैं । फिर लगभग दो वर्षों की खामोशी तब **चौराहे पर कृष्ण** । यह मेरी रचना प्रक्रिया का एक उदाहरण है । एक बात और । सदा न लिख पाने की कसक तो मन में रहती है परन्तु किसी प्रकार का अपराधबोध इसलिए नहीं करता क्योंकि सृजन के रहस्यों से आख़िरी पर्दा अबतक उठ नहीं पाया है । छोटी औक़ात का आदमी हूँ मैं सृजन का पर्दा कैसे उठाऊँ ! पहाड़ी की बेटी **दुर्गा** पर एक लम्बी कविता लिखने का बड़ा मन है लेकिन उस दिशा में एक शब्द भी मन से नहीं उठ पाया है । मेरे मित्र **शलभ श्रीरामसिंह** ने भी दुर्गा को केन्द्र में रखकर महत्वपूर्ण काम करना चाहा था । शायद मनोवांछित रूप में वह भी नहीं कर पाए । रचना अपनी शर्तों पर आती है, आएगी और अपनी प्रक्रिया खुद तै करेगी ।

परिवेश और रचना के अंतःसंबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

परिवेश रचना के लिए प्रेरित करता है लेकिन मेरे जैसे रचनाकार के लिए संस्कार और द्वन्द्व से उत्पन्न प्रेरणा अधिक महत्वपूर्ण होती है । बहुत स्थूल रूप में वह प्रेरणा तात्कालिक परिवेश का परिणाम मुझे यदि लगे तो यह आत्मछल होगा । रचनाकार का मानस उसके संस्कारों से निर्देशित होता है । मेरे लिए परिवेश से कीलित हो जाने वाले क्षण अबूझे नहीं रहते और परिवेश से कीलित हो जाने की अनुभूति जब रहती है तब रचना कर्म को मैं स्थगित कर देता हूँ । आदर्श स्थिति प्रेरणा को अभिव्यक्ति के क्षणों में ढालने की होती है और वह आत्मसाक्षात्कार यानी समाधि में पहुँच जाने की होती है । दूसरों की नहीं जानता

मेरे लिए रचना प्रक्रिया का दौर कई बार परिवेश की स्मृति और आत्मलीन हो जाने की स्थिति होती है । रचना के समय मेरा अपना व्यक्तित्व भी मेरे सामने नहीं होता । किसीको यानी खुद को भी न दिख पाने वाली मानसिक उद्वेलन की तरंगें होती हैं । मेरी यह बात कितनों के कितनी पल्ले पड़ेगी, नहीं जानता, लेकिन यह सच है ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

दो रचनाओं के बीच के अन्तराल में अपने संस्कारों और समय की आवाजाही मेरे मन में जारी रहती है । संभावित रचना इस आवाजाही में ही अपनी प्रक्रिया जारी रखती है । क्या पका, क्या नहीं पका यह सिर्फ़ समय बल्कि भविष्य तै करता है । मेरे जैसे रचनाकार अपनी मुट्ठी में सृजन क्षण को क़ैद नहीं कर पाते । जो कर पाते हैं उनको मेरा प्रणाम ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

यह प्रश्न स्वयं में सही उत्तर है । मैंने आरंभ में ही कौंध शब्द का प्रयोग किया था । तुम्हारा यह प्रश्न अलग से मेरे लिए कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि कौंध शब्द मेरी रचना प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका अदा करता है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

मैंने एक जगह कहा है कि तयशुदा विषय पर तयशुदा ढंग से लिखना मेरे लिए कभी संभव नहीं रहा । फ्रेम बनाकर तस्वीर को फ्रेम के अनुकूल यदि काटा छाँटा जाए तो तस्वीर बनाने वाले का अपमान ही होगा । रचना के लिए एक बड़ा मकसद होता है । हर रचना का अलग-अलग मक़सद तै करना और उसके अनुरूप अभिव्यक्ति को तोड़ना-मरोड़ना एक दर्जी या पुराने तरीक़े के चारणों का धंधा हो सकता है । निजी संदर्भ में मैं संकेत करूँ कि प्राप्त समाज की विकृतियों से जूझने और एक बेहतर समाज बनाने की कोशिशों को प्रेरणा दे पाने वाली रचनाओं का सृजन करना मैं चाहता रहा हूँ । यहाँ एक बात और करने की है कि चूँकि केवल यशलिप्सा या किसी आर्थिक महत्वाकांक्षा के कारण रचना की दुनिया में मैंने प्रवेश नहीं किया बल्कि वर्तमान समाज में मानवोचित क्रांतिकारी रूपान्तरण की कोशिशों से जुड़ने के लिए क़लम उठाई है इसलिए किसी साधारणीकृत ढंग से मैं

आपके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दूँगा । मेरी कोई भी रचना मानव मुक्ति की कोशिशों से अलग न हो यह मेरा प्रयास है और स्वप्न भी ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है । इसके उत्तर के लिए रचना की भाषा एक विचारणीय बिन्दु है । समकालीन साहित्य परिदृश्य की एक विडम्बना यह है कि फ़तवे के रूप में कुछ लोग सरल और सुबोध भाषा के व्यवहार का उपदेश रचनाकारों को देते रहते हैं । इस मामले में महाप्राण **निराला** मेरे आदर्श हैं । हर विशिष्ट रचना अपना विशिष्ट रंग रूप लेकर आती है । **राम की शक्तिपूजा** और **कुकुरमुत्ता** दोनों की भाषा एक नहीं हो सकती थी । लेकिन दोनों कविता के सर्जक का नाम निराला ही है । मैं यह मानता हूँ कि किसी भी शब्द का कोई पर्यायवाची नहीं होता । अमरकोष या कोई भी शब्दकोष विद्यार्थियों के लिए पर्यायवाची सुझाते रहे रचनाकार के लिए कोई सुझाव उनके पास नहीं होता । यदि आप मेरी रचनाओं से गुज़रें तो भाषा के विभिन्न रूप मिलेंगे, विभिन्न शैलियाँ भी मिलेंगी । यदि कुछ नहीं मिलेगा तो वह **केदारनाथ सिंह** की एकरसता, एकरूपता और **रघुवीर सहाय** की कविता का एक साँचा ढला रूप । आपके प्रश्न के उत्तर में मुझे यह दोनों नाम इसलिए लेने पड़ रहे हैं हिन्दी कविता में उभर रही एक पूरी पीढ़ी इन दोनों को मॉडल के रूप में इस्तेमाल कर निजीपन से अलग पड़ती जा रही है । मेरे शब्दों ने मुझे कभी धोखा नहीं दिया । यह भी सच है कि किसी भी रचना का पहला रूप मेरे लिए अन्तिम रूप नहीं होता । **केदारनाथ सिंह** और **रघुवीर सहाय** जैसे लोगों के कारण नई पीढ़ी का एक बहुत बड़ा हिस्सा नया रास्ता तलाशने के जोखिम को उठाने का रास्ता नहीं बना पा रहा । इस पीढ़ी के सामने कवि कहलाने की चरितार्थता के अलावा और कोई मक़सद नहीं लगता । **विष्णु खरे** की कविताओं में संवेदनाओं की जगह आँकड़े लेते जा रहे हैं । **विनोद कुमार शुक्ल** अपनी गद्यनुमा खींचतान को कविता ठहराने की जद्दोजहद में दिखते हैं तो संकट की गहनता साहित्य सहृदय समाज के लिए नई चुनौतियाँ लेकर आ रही है ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

मैं उन विचारकों के साथ अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करता हूँ क्योंकि अवचेतन में संस्कारों का द्वन्द्व जारी रहता है । परम्परा के स्पन्दन और प्रगति की टकराहट से ही सार्थक रचनाओं का जन्म होता है । ●

स्वदेश भारती

जन्म : 12.12.1939
प्रतापगढ़ (उ. प्र.)

प्रकाशित कृतियाँ :
इक्कीस सुबह और (1969)
तपिस मिटती नहीं (1974)
आवाज़ों के कटघरे में (1974)
दूसरा वामाचार (1983)
भरे हाट के बीच (1984)
कलकत्ता ओ कलकत्ता (1990)
त्रासदी के द्वार पर (1991)
सागर प्रिया (1992)
सीढ़ियाँ चढ़ता सूर्य (1994)
सूर्य का आहत मौन (2000)
असमय की जर्जर नाव में (2001)
अनन्ततः (2001)
उपन्यास 4

सम्पादन :
रूपाम्बरा

विशेष

अज्ञेय द्वारा सम्पादित
चौथा सप्तक के कवि
16 अखिल भारतीय राजभाषा सम्मेलनों का संयोजन, संचालन

पुरस्कार/सम्मान :
प्रेमचन्द पुरस्कार
साहित्य महामहोपाध्याय
साहित्य भूषण
इत्यादि अनेक सम्मान

जबतक आदमी रहेगा, वह रचता रहेगा
कविता का एक सप्तवर्णी आकाश

प्रत्येक सुबह के सप्तवर्णी आकाश में/समय देता आवाज़ें/
चलो चलो, आगे बढ़ो/ भुलाकर जीत-हार/मान-असम्मान
जीवन का इकतारा बजता/गाओ गान ।

कलकत्ता महानगर के प्रतापादित्य रोड पर स्थित **रूपाम्बरा राष्ट्रीय हिन्दी अकादमी** के एक छोटे से तीन कमरे के फ्लैट में कॉल-बेल दबाते ही सीखचों के दरवाज़े खुलने से पूर्व एक आवाज़ हम तक पहुँचती है– कौन? सीखचों से आपकी दृष्टि भीतर कौन सुनने के पूर्व ही पहुँचती है तो आप पाएँगे एक रचनाकार नियमित दस से एक बजे तक रचना-कर्म में रहता है ।

सम्पादक **स्वदेश भारती** बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं । प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि एवं लेखक **अज्ञेय** ने इनकी संभावनाओं को देखकर अपने द्वारा संपादित संकलन **चौथा-सप्तक** में इन्हें सम्मिलित किया था । कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, अनुवादक विभिन्न रूपों में इन्होंने हिन्दी जगत् को स्मृद्धि दी है ।

स्वदेश भारती का मानना है कि कविता जीवन और चिन्तन के राग से बनी होती है । यह स्वर, लय-ताल-छन्द को अन्तस् के सितार पर साधती है । यह अस्तित्व से साक्षात्कार करवाती है । जीवन के गहरे विषाद भरे संदर्भों में कविता से ही अपनत्व प्राप्त होता है । कवि का कथन भी है कि **कविता लिखने के लिए मेरे पास जीवन का विशाल कैनवस है ।**

स्वदेश भारती यह स्वीकार करते हैं कि चौबीस घण्टे में कुछ कार्यों के लिए जिस प्रकार निश्चित समय होता है उसी प्रकार रचना-कर्म के लिए भी उपयुक्त समय देना ज़रूरी है क्योंकि–

जिया हुआ सत्य ही/हमें रास्ता दिखाता है
यूँ तो समय/अनन्त की ओर चला जाता है
गया हुआ समय/भला कहाँ, कब लौटकर आता है ।

कवि अपनी रचना के माध्यम से एक ऐसा कविता-घर का निर्माण करने को इच्छुक है जिसके शीशे के घर में बैठकर वह प्रकृति के कण-कण को निहारेगा । कविता के विविधवर्णी रूपाकार से इस घर की सजावट होगी एवम् होगी वहाँ विचारों की मुक्तता ।

रचना-कर्म की निरन्तरता आज पचास वर्ष के पश्चात् भी कहीं रुकी नहीं है । कुछ और लिखने की ऊर्जा कवि में जुनून की तरह देखी जा सकती है । उनके चेहरे पर फैली एक मुस्कान हमेशा हमें यह संकेत देती है कि कविता आदमी को आदमी से जोड़ती है । जबतक आदमी रहेगा, वह रचता रहेगा कविता का एक सप्तवर्णी आकाश । ●

कभी भी कोई रचना सर्वांगतः सम्पूर्ण नहीं होती
उसमें कहीं न कहीं खालीपन अवश्य होता है

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

लिखने की प्रेरणा, जब मैं ग्यारह वर्ष का था और सातवीं कक्षा का विद्यार्थी भी, तभी मिली । मेरे संस्कृत के टीचर विद्वान थे, साथ ही काव्य-प्रेमी भी । अक्सर हिन्दी कविताएँ वह कक्षा में सुनाते थे जिसका प्रभाव मेरे मस्तिष्क पर गहराई से पड़ा और मैं कविताएँ लिखने लगा । दरअसल **निराला, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त** की कविताएँ सुनाकर वे भाव अभिभूत होते थे । एक दिन की घटना है मेरे इन्हीं गुरुवर (राजेन्द्र प्रसाद शास्त्री) ने मुझे कविताएँ सुनाते हुए पकड़ लिया और मुझसे डायरी लेकर स्वयं छात्रों को मेरी कविताएँ सुनाने लगे । उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया । मैं डर से सहम गया कि मार पड़ेगी । धीरे-धीरे उनके नज़दीक पहुँचा और कहा– जी सर! मेरे भय को भाँपकर हँसते हुए उनका कहना था– **डरो नहीं, तुम बहुत अच्छी कविता लिखते हो । रोज़ एक कविता लिखकर मुझे देकर जाओ** । मैंने **जी सर!** उत्तर तो दिया लेकिन मन में आशंका बनी रही, नींद भी आँखों से ग़ायब । कैसे एक कविता प्रतिदिन शास्त्री जी को लिखकर दूँगा । मेरे घर के पास आम का बहुत बड़ा बगान है जहाँ दिन में भी अँधेरा जैसा माहौल रहता था । वहीं **वृक्ष के नीचे पहुँचकर वृक्ष से ही कहता था– तुम मुझे फल की जगह एक कविता लिखने का ज्ञान दो** । मैं हर रोज़ चार पंक्ति या आठ पंक्ति लिखकर शास्त्रीजी के पास ले जाता । गंभीरतापूर्वक उन पंक्तियों को पढ़कर वे उन पंक्तियों को सभी छात्रों को सुनाते । उन्होंने मेरा नामकरण किया – शार्दूल शब्द से । और प्रत्येक कविता के साथ शार्दूल शब्द मेरे द्वारा लिखा जाने लगा । कॉलेज जीवन में एक कॉलेज-प्रतियोगिता हुई जिसका विषय था– अहिंसा के द्वार ही विश्व शांति संभव । मेरे Physics के टीचर के आदेश से इस प्रतियोगिता में मैंने अपना आलेख तैयार करके भेज दिया । दो-तीन महीने पश्चात् परिणाम आया कि मुझे प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है । इलाहाबाद के दारागंज़ इलाक़े में पुरस्कार वितरण समारोह था । काका **कालेलकर** अध्यक्ष थे और विशिष्ट अतिथि **मैथिलीशरण गुप्त** । पुस्तकों के रूप में उपहार प्रदान करते हुए राष्ट्रकवि ने पूछा– **बेटा, तुम्हारा नाम क्या है** । मुझे अचम्भा हुआ नाम तो पहले ही पुकारा जा रहा था, पुकारे हुए नाम के कारण ही मैं मंच पर था । फिर भी शिष्टता थी मैंने कहा– **शारदा कुमार प्रसाद**

शार्दूल । दूसरा प्रश्न उन्होंने पूछा— क्या तुम कविताएँ भी लिखते हो ? मैंने सकुचाते हुए उत्तर दिया— जी! मेरी पीठ थपथपाते हुए उन्होंने पुनः कहा— तुम लाखों लड़कों में प्रथम आए हो । तुममें लिखने की संभावनाएँ हैं । लेकिन तुम यह नहीं जानते हो कि लेखक का इतना बड़ा नाम नहीं होना चाहिए । छोटा हो तो अच्छा है । मेरी मानो, अपने लिखने का नाम स्वदेश भारती कर दो । तब से मैंने आशीर्वाद स्वरूप इसी नाम को अपना लिया । संक्षेप में इन घटनाओं का मेरी रचनाओं पर सीधा प्रभाव पड़ा है ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

रचना साधना का एक अंश है । कभी ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि लेखकीय कर्तव्य में बहुत ज़्यादा परिश्रम करने की बात है अथवा बहुत अधिक तनाव के क्षणों से गुज़रने की बात है ।यह तो होता ही है रचनाकार जब लिखता है तो तनाव का भार सहन करता है किन्तु रिलैक्सड होने की बात मेरी समझ में आज तक नहीं आई । क्योंकि कभी भी कोई रचना सर्वांगतः सम्पूर्ण नहीं होती । उसमें कहीं न कहीं खालीपन अवश्य होता है। रिलैक्सड तो तब हुआ जाता है जब कि कोई चीज़ पूरी की पूरी सम्पूर्णतः परिपूर्ण हो ।

परिवेश और रचना के अंतःसंबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

परिवेश और रचना के यथार्थ के साथ सम्पृक्तता ही रचना है । और रचना के सर्जन की स्थिति आत्मपरक होती है । उसमें आत्मसाक्षात्कार जैसी बात मुझे लगती नहीं । हाँ, जीवन का यथार्थ ही रचना को ओज प्रदान करता है । रचना की गति को नदी की धारा की तरह समझना चाहिए । रचना लिखते समय किसी प्रकार का विघ्न या रुकावट उसी तरह है जैसे नदी प्रवाहित होते-होते किसी तटबन्ध या पुलिन तट से कुछ हद तक अपने प्रवाह को रोकती है । रचनाकार को रचना के तईं यह विचार करना है, कैसे वह अपनी रचना को प्रवाहयुक्त कर सके ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

कभी सोचकर, डायरी में लिखकर न तो मैंने रचना का खाका बनाया और न ही पात्रों की सूची या विविध प्रसंग का प्रारंभिक ताना-बाना । कविता लिखने के लिए मेरे पास जीवन का विशाल कैनवास है और उस कैनवास पर भोगे हुए यथार्थ की अनुकृतियाँ कहीं स्पष्ट, कहीं अस्पष्ट दिखलाई पड़ती है । मेरे दिमाग़ पर उन अनुकृतियों की छाया दस्तक देती है और मैं अपनी कविता के साथ जुड़ता हूँ । और उस गति में जो कुछ लिखता हूँ वह पहले से निर्धारित नहीं होता । कविता के बीच से ही कविता निकलकर कविता मेरे सामने मेरे लेखन में आती है । कविता का स्ट्रक्चर, उसकी थीम, उसकी छंदबद्धता, उसके शब्द,

प्रतिमान शिल्प के साथ सर्जित होते हैं और मैं उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को अपने से गहरे जोड़ने का यत्न करता हूँ ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

कुछ रचनाकार ऐसे हैं जिनके लिए क्षणभर में फ्लैश होने की बात का असर होता होगा और इससे उनको प्रेरणा भी मिलती होगी । मेरे लिए ऐसा बहुत कम क्षण आया है जबकि किसी खास परिस्थिति में अथवा किसी खास दायरे में कुछ लौकिक-अलौकिक प्रेरणा का प्रभाव सर्जित हुआ है । जैसे यदि मैं समुद्र के किनारे जाऊँ तो समुद्र की लहरों के उद्वेलन में जीवन परिवर्तन का क्षण यदि अनुभव करूँ, किसी पर्वत पर जाऊँ तो झरनों घाटियों के शिखर पर जमीं बर्फ़ से सीधा प्रभाव ग्रहण करूँ अथवा किसी सघन जंगल में जाऊँ तो गहरी खामोशी का अनुभव करूँ । इन तीनों स्थितियों में आत्मयंत्रणा के तमाम सारे रंगों का प्रतिबम्ब चेतना पट पर उभरता है । रचनाकार अपने को उस प्रतिविम्ब के प्लेटॉनिक सत्य से जोड़कर नवसर्जित भावों को संयोजित कर रचना लिखता है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

ऐसा सोचना ठीक नहीं कि रचनाकार जो कुछ लिखना चाहता है उससे इतर लिख जाता है या उसके लिए सही शब्द नहीं मिलते अथवा अवश स्थिति महसूस करता है । क्योंकि रचनाकार एक बुद्धिजीवी प्राणी है । जो कुछ लिखना चाहता है यदि उससे वह डिस्टर्ब होता है अथवा लिखते-लिखते कहीं और चला जाता है तो उसके लिए यह स्थिति दयनीय है । जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ रचना नदी की धारा की तरह है । धारा अपने को बहुमुखी करती है तो एक नदी में से कई नदियाँ बन जाती है और फिर मुख्यधारा अपने प्रभाव को क़ायम नहीं रख पाती है । धीरे-धीरे नदी सूख जाती है । ऐसा ही रचना के साथ भी है ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

सृजन के दौरान मैं कभी भी शब्द-स्खलित नहीं हुआ । शायद मेरे रचना-काल में ऐसा कोई क्षण नहीं आया क्योंकि लेखक जब असहाय महसूस करता है और रचना की गंभीरता से इतर अन्य बातें सोचता हैं अथवा रचना का व्यतिक्रम सहता है अथवा रचना के पारदर्शी प्रभाव से अपने को विमुक्त कर लेता है तभी उसकी तन्मयता में बाधा आती है और शब्द-स्खलन भी हो सकता है । रचना ठीक-ठीक यथार्थ का सीधा चित्रण है ।

फिर यदि यथार्थ मे व्यतिक्रम है या ओढ़ा हुआ यथार्थ है, थोपा हुआ यथार्थ है तब शायद-स्खलन की बात आती है । यथार्थ से जुड़ना और अपनी रचना को सर्जनात्मक रूप देना रचनाकार की अपनी प्रतिभा पर निर्भर करता है ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

मैं जहाँ तक सोचता हूँ कर्म ही अवेचतन को प्रभावित करता है क्योंकि कर्म और रचना का सीधा ताल्लुक़ है । लेखक जैसा जीवन-यापन करता है उसकी जैसी दिनचर्या होती है जिस सोच से कर्म करता है । सारे दिन की दिनचर्या में जिस सार्थक समय के बीच वह अपने को रचना से जोड़ता है । इन सबसे रचना पर संरचनात्मक प्रभाव पड़ता है । ऐसा भी देखा गया है कि लेखक यदि दुष्कृति है, उदंड है, स्वेच्छाचारी है, भोगी है तो उसकी रचना पर उसी प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं । यदि रचनाकार परिवार के बीच फँसा हुआ है तमाम सारे घटनाचक्र में अपने को अवश, असहाय पाता है तो उसकी रचना का आयाम भी उसकी प्रकार से प्रभावित होता है । हाँ ऐसा बहुत कम हुआ है रचनाकार अपने दिमाग़ में कई कोठरियाँ बना ले । एक परिवार के लिए, दूसरी अपनी जीविका के लिए, तीसरी अपने लेखन के लिए और एक को बंद कर, दूसरी को बंद कर, तीसरी को खोल लेता है तब रचनाकार का जीवन स्वयं सर्जित होता है और उसमें रचना के लिए व्यापक ज़मीन मिलती है जहाँ वह अपनी रचना के साथ सम्पृक्त होता है ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ?

रचना प्रक्रिया लेखक की सतत साधना का एक लम्बा मार्ग है जिस पर वह चलता है और यह यात्रा जीवन-पर्यन्त पूरी नहीं होती । हाँ, कभी संबंधों की चोट में रास्ते सँकरे हो जाते हैं । कभी आत्मजयी चिन्तन से रास्ते चौड़े बन जाते हैं । कभी समष्टिगत सर्जन के प्रभाव से रास्ते के दोनों ओर हरियाली बिछ जाती है और कभी दुख के काले सपने कुहासा सर्जित करते हैं एवम् रास्ता धुंध में डूब जाता है । इन तमाम सारी स्थितियों में रचनाकार का दायित्व है कि वह अपनी यात्रा दायित्वहीन या अकर्मक नहीं बनाए और उसपर आगे बहुत चलता रहे । इन तमाम स्थितियों में भी जीवन के यथार्थ का उच्छिष्ट लेखकीय चिन्तन को प्रभावित करता है । उस प्रभाव को लेखक आत्मसात् कर अपने गन्तव्य की दूरी तय करता है और रचना-बोध के यथार्थ से जुड़ता है तो यह उसका अपना-अपना कर्म होता है जिसमें रचना को वे सभी आयाम मिलते हैं जिसकी ज़रूरत रचनाकार को होती है ।●

नरेन्द्र कोहली

जन्म : 06.10.1940 (स्यालकोट)

प्रकाशित कृतियाँ :

शोध ग्रन्थ :

प्रेमचन्द के साहित्य-सिद्धांत

उपन्यास :

सृज़न, पुनराम्भ, आतंक, अश्रितों का विद्रोह
साथ सहा गया दुःख, मेरा अपना संसार
दीक्षा, अवसर जंगल की कहानी, संघर्ष की ओर
युद्ध (भाग - 1/2) आत्मदान, प्रीति-कथा
महासमर (1/2/3), अभ्युदय

आलोचना :

कुछ प्रसिद्ध कहानियों के विषय में आलोचना
प्रेमचंद और सिद्धांत

कहानी संग्रह :

परिणति, कहानी का अभाव, दृष्टिदेश में एकाएक
नमक का कैदी, निचले फ्लैट में, संचित भूख

व्यंग्य संग्रह :

एक और लाल तिकोन, पाँच एब्सर्ड उपन्यास
जगाने का अपराध, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ
आधुनिक लड़की की पीड़ा, परेशानियाँ

नाटक :

शंबूक की हत्या, निर्णय रूका हुआ, हत्यारे, गारे की दीवार

बाल कथाएँ :

गणित का प्रश्न, आसान रास्ता

आत्मपरक निबंध :

नेपथ्य

संस्मरण :

बाबा नागार्जुन

बाल उपन्यास :

एक दिन मथुरा में

रचना-प्रक्रिया पर
जब अपना कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता
वह स्वतः स्फूर्त और स्वतन्त्र हो जाती है

'भारतीय काव्य-शास्त्र में रचना-कर्म को जिस प्रकार योगी की समाधि के समकक्ष रखा गया है, वह बहुत सही है । वस्तुतः समाधि और मधुमती भूमिका एक ही स्थित के दो नाम हैं । इसका अर्थ है कि लेखक मानसिक तटस्थता की उस ऊँचाई पर पहुँचे, जहाँ वह

अपने मन और हृदय को भी निष्पक्ष तथा अनासक्त भाव से देख सके । उस समय चूँकि वह अपनी देह, अपने मस्तिष्क तथा अपने हृदय से भी परे होता है, इसलिए रचना में भी व्यक्तिगत राग-द्वेष, स्वार्थ, भय, त्रास– किसी के लिए भी अवकाश नहीं होता । इस प्रकार किया गया सृजन सदा ही सात्विक, न्यायसंगत तथा सार्वभौम होता है ।'

नरेन्द्र कोहली से मेरा परिचय उनके उपन्यासों को पढ़ते हुए हुआ । एक जुनून था दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर, युद्ध (1/2) को पढ़ते समय । अनायास मन में एक भाव भी था कि क्या लेखक से प्रत्यक्ष भेंट मेरी संभव है ? रचना-प्रक्रिया पर काम आरंभ किया उसी दौरान नरेन्द्र कोहली से मेरा पत्राचार हुआ एवं पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था– आप **मेरी रचना प्रक्रिया समझना चाहती हैं यह प्रसन्नता का विषय है, किन्तु उसे समझने का बोझ मुझ पर न डालें** । इत्तफ़ाक़ था कुछ दिनों बाद रोटरी क्लब द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में भाग लेने के लिए कोहलीजी का आगमन हुआ कोलकाता । वे कहाँ रूके हैं ? यह सूचना देने वाले के लिए बताना मुश्किल था । हाँ यह कहना वह नहीं भूले कि कोहलीजी से आप मिल नहीं पाएँगी । रोटरी क्लब की तरफ से पाबन्दी है । किन्तु मेरा विश्वास था कि मैं उन्हें अवश्य ढूँढ़ पाऊँगी । अन्ततः साढ़े आठ बजे मैं भारतीय भाषा परिषद् पहुँची । लिफ्ट के स्विच पर मेरी अँगुली थी, दरवाजा खुला । कोहलीजी ने कहा-- इन्दु जोशी ? मैं अवाक् थी । फिर उनका उत्तर था — **इस महानगर में पसीने से तर-बतर मुझे वहीं ढूँढ़ सकता है जो मुझसे सम्पर्कित कार्य को पूरा करने के लिए व्यग्र है । आप आधा घण्टा प्रतीक्षा कीजिए । कहीं नाश्ते के लिए निमंत्रण है** । ठीक आधे घण्टे के बाद नरेन्द्र कोहली लौट आए । मैंने रचना-प्रक्रिया संबंधित प्रश्नों के उत्तर को रिकॉर्ड किया । इस सामग्री पर दो-तीन बार उनसे पत्रचार हुआ ।

एक रचनाकार को यदि हमें जानना है तो उसके लिए श्रम भी तो हमें ही करना पड़ेगा और रही उनकी रचना-प्रक्रिया को समझने की बात तो उन्हीं के शब्दों में–

रचना-प्रक्रिया पर जव लेखक का अपना कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता, वह स्वतः स्फूर्त और स्वतन्त्र हो जाती है तो वह उत्कृष्ट रचना बनती है । यह एक प्रकार के ट्रांस में लिखी गई रचना है, जिसे बाद में पाठक के रूप में पढ़कर स्वयं लेखक भी चकित रह जाता है । ●

अनुभव सम्पत्ति
एक क्षण की तो नहीं हो सकती
इसमें अगली-पिछली सारी पूँजी इकट्ठी है

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

मैंने इस विषय में बहुत सोचा है। यह प्रश्न बार-बार मेरे मन में भी आता है कभी अपने मन से, कभी दूसरों के द्वारा । जहाँ तँक मेरी स्मरण शक्ति जाती है, घटना के रूप में इस प्रश्न का उत्तर खोजूँ तो ठीक-ठीक उम्र भी मैं नहीं वता सकता किन्तु मैं बहुत छोटा बच्चा था जब मेरी मां कुछ लोकगीत गाया करती थी । कृष्णभक्ति के लोकगीत होते थे । तब मेरे मन में आता था मैं भी ऐसा ही कुछ लिखूँ । अब इसका कोई विश्लेषण मेरे पास नहीं

है कि मैं लिखना ही क्यों चाहता था । फुटबाल क्यों नहीं खेलना चाहता था या कुछ और किसी भी तरह का कार्य क्यों नहीं करना चाहता था । मुझे लगता है सहज रूप से एक प्रवृत्ति मेरे भीतर थी कि मुझे लिखना है और लिखना क्यों है ? क्योंकि लिखना एक महत्वपूर्ण काम लगता था । अपनी कॉपियों में जो कुछ लिखा, वह अलग बात है । छठी कक्षा में हस्तलिखित पत्रिका में मेरी रचना छपी थी । दिन तै करना कठिन है किन्तु लेखन की प्रवृत्ति आरम्भ से मेरे भीतर है या कहिए छठी कक्षा से लेखन को एक सिलसिला या निरन्तर लेखन कर्म से जुड़ा हूँ मैं ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्सड महसूस करता है पर रचते समय ? आपने क्या महसरू किया ?

मूझे ऐसा लगता है कलम जितने समय तक चलती है (शायद यह शब्द **प्रेमचंद** के हैं) **मैं सुखी रहता हूँ** । मेरा अनुभव है कि लिखने की उत्कट इच्छा, लिखने मात्र की ही नहीं अगर उसके पीछे गहराई में जाएं, विश्लेषण करें, कहीं वह अभिव्यक्ति की इच्छा है । परन्तु यह इच्छा अभिव्यक्ति की ही नहीं है । अभिव्यक्ति को स्वीकार भी किया जाए तो शायद लेखक यश भी माँगता है कि मैंने लिखा है, यह आपको मालूम हो । आप उसके लेखन की प्रशंसा करें स्वाभाविक है एक आकांक्षा मन में होती है । सबसे संकट की स्थिति वह होती है **न लिख सकना** । जब आप चाह रहे हैं, लिख नहीं पा रहे हैं । अभी तक मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ है कि मेरे मन में कुठ नहीं आ रहा है । अब रचना प्रक्रिया को लें बहुत सारे रूप, आयाम परिस्थितियाँ ऐसी हैं कभी लगता है जैसे बीज बोया, तत्काल एक आकार बीज ने ग्रहण कर लिया । इलेक्ट्रिक करेन्ट जैसे आए, सबको जोड़ दें, जो चीज़ें मन में गुत्थी हुई हैं । सबके जुड़ने से एक रूपाकार उसे मिल जाए तो लिखना बड़ा सहज हो जाता है । या कहिए एक प्रवाह काग़ज़ पर उतरता चला जाता है । मेरे साथ अक्सर ऐसा हुआ है कि पाँच पृष्ठ लिखने की जगह पच्चीस पृष्ठ लिखे गए हैं । इसमें शारीरिक थकान अवश्य होती है । कुर्सी पर बैठे-बैठे थक गए, अंगुलियाँ भी थक गई लेकिन उसने साथ जो आनन्द जुड़ा हुआ है वह जब हम लिखकर उठते हैं उसमें लगता तो है **मैं थका हुआ हूँ** किन्तु **सन्तुष्ट भी होता हूँ** । वह एक प्रकार का स्ट्रेन नहीं थकान है । यह बोझ नहीं है, तनाव नहीं है । एक दूसरी स्थिति भी होती है । आप लिखना चाह रहे हैं आप लिखते हैं काटते हैं, लिखते हैं काग़ज़ फाड़ते हैं क्योंकि मन में बना बिम्ब जो काग़ज पर उतर रहा है वह उसके योग्य नहीं है । जो मन में है वह काग़ज़ पर पूरा-पूरा नहीं उतर पा रहा है ऐसी हालत में तनाव, खीझ का होना स्वाभाविक है । कलाकार खीझा हुआ होता है, घर में झगड़ा भी हो सकता है शॉर्ट टेम्पर इसे कहना चाहिए । मानसिक तनाव का कारण है सही बिम्ब को काग़ज़ पर उतार नहीं पाना । जो चीज़ बनाना चाह रहा हूँ, नहीं बन पा रही । एक भिन्न स्थिति और भी है जिस समय बिम्ब बन जाता है, उसके बाद भी लिखने में कष्ट होता है । जितना कम पका हुआ मन में वह होगा उतना लिखने में श्रम ज़्यादा होगा । जितना मन में पक जाता है, पूर्ण रूपाकार में

आता है, शब्द भी सूझते जाते हैं, विचार भी उठते जाते हैं । इसको यूँ समझें । लिखने बैठे जड़ और तना तो मेरे पास है, मैं इसको लिख लूँ । लिखते-लिखते लगा उसमें शाखाएँ फूट आई, छोटी-छोटी टहनियाँ आ गईं, पत्ते आ गए, फूल आ गए, और ऐसी स्थिति में अपने लिखे को पढ़कर लेखक भी मुग्ध होता है, अच्छा यह मैंने लिखा है । वह सोचकर नहीं बैठा था । **रचना लिखने के दौरान ही पैदा होती रहती है** । यह स्थिति वास्तव में सबसे सुखद होती है । जितना सरल रूप से प्रवाह युक्त आप लिख पाते हैं वह आपको उतना ही आनन्द देता है । मैं इसको थकान कहता हूँ, क्लांति कहता हूँ, तनाव नहीं, बोझ नहीं । इससे आपकी क्षमता कम नहीं होती, क्षमता बढ़ती है । वैसे ही एक भरी-पूरी सफल ज़िन्दगी जीकर बुढ़ापे में आदमी सोचे कि मेरा सारा कार्य पूरा हुआ । मैं सुखी हूँ लगभग वैसा ही भाव रचना पूरी हो जाने पर मन में आता है ।

परिवेश और रचना के अंतः संबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है । किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसक्षात्कार की स्थिति)

मैं यह कहूँगा कि अलग-अलग रचनाओं के साथ अलग-अलग स्थिति होती है क्योंकि व्यक्ति जो है उसका एक मानस है । जो कुछ व्यक्ति सोचता रहता है उसका अंग परिवेश नहीं है या परिवेश के बिना भी वह ऐसा ही होता जरा कहना मुश्किल है । मनुष्य जन्मजात प्रवृत्तियाँ लेकर जगत में आता है । हर व्यक्ति की प्रवृत्ति अपनी होती है जो प्रकृति या ईश्वर ने उसे प्रतिभा दी है, उसके विरुद्ध व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता । किन्तु परिवेश उसका विकास करेगा या उसके मार्ग में बाधा या अवरोध बनकर आएगा । यह आपको मालूम नहीं होता है । कई बार परिवेश ऐसा मिलता है जिसमें व्यक्ति सफलता प्राप्त करता जाता है । कई बार ऐसा होता है परिवेश के बिल्कुल विपरीत व्यक्ति ऐसा काम कर देता है जो उस परिवेश में संभव नहीं था । सबसे आदर्श स्थिति होती है व्यक्ति की अपनी शक्ति और परिवेश का संतुलन जहाँ स्थापित हो जाता है और चिन्तन जो है जिसे मैं कह सकता हूँ कि यह मेरा चिन्तन है । दरअसल वह चिन्तन नहीं कुछ चीज़ों का परिणाम होता है, निष्कर्ष होते हैं । उसकी पृष्ठभूमि में घटनाएँ, परिस्थितियाँ, व्यक्ति जो आपके आस-पास है उसका प्रभाव, जो कुछ पढ़ा है उसका प्रभाव, सबका मिला-जुला समग्र प्रभाव, मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करता है । यदि मैं यह कहूँ कि केवल मैं हूँ अपने सामने लिखते समय और कोई नहीं है तो मैं क्या हूँ, मैं भी आख़िर उन्हीं चीज़ों का परिणाम हूँ । अगर मैं एकान्त में हूँ, अपने मन के भीतर झाँकूँ। । (एकान्त तो खैर अपने कमरे के भीतर भी हो सकता है) मेरा मन आख़िर उस परम्परा परिवेश, वातावरण से भिन्न कैसे हो सकता है । इसे वर्ग चित्र भी कहते हैं । जिस वर्ग का व्यक्ति हूँ मैं, वर्ग यानी साम्यवादी मार्क्सवादी की बात छोड़ दूँ, कहूं मैं अध्यापक हूँ । इस जीवन को मैंने जिया है । जब कभी तमाशा बनता है अध्यापक लोग ऐसा करते हैं चूंकि मैंने अध्यापक की ज़िन्दगी देखी है, उसके साथ मेरा तादात्म्य है, इसलिए मेरे भीतर से उसका विरोध

उठेगा । यह चिन्तन मेरा ही माना जाना चाहिए । चिन्तन परिवेश से मेरा तादात्म्य है । कितना भी अकेले होने पर आध्यात्मिक स्थिति हो जिसमें आत्मा सारी चीज़ों को त्यागकर शुद्ध रूप में आ जाए जैसे पानी में मैं नहीं कह सकता कि मेरी वह स्थिति नहीं है किन्तु अभी तक मेरी जो आत्मा है जो मेरा चिन्तन है मेरे परिवेश से है जिस राह से गुज़रकर मैं आया हूँ उससे भिन्न नहीं हूँ मैं ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

यह जो शब्द आपने लिया है सोचते-विचारते । इसके लिए शब्द मेरे मन में आता है वह शब्द है **मनन** । संयोग से मेरी ज़्यादा चर्चित रचनाएँ प्रख्यात कथाओं को लेकर है । बार-बार मुझसे लोग पूछते हैं कि आपने जो लिखा है, कितना अध्ययन आपने किया, जैसे कुछ खोज के निकाला है किन्तु सच कहूँ, अध्ययन मेरा ज़्यादा नहीं है । व्यास द्वारा लिखी मूल **महाभारत** की एक प्रति को पढ़ना मेरे लिए पर्याप्त है । उस पर मनन जो करना है ज़्यादा श्रम, ज़्यादा समय का काम नहीं है । एक घटना है, परिस्थिति है, चरित्र है, उनके बीच में जो तर्कसंगत जीवन्त परिवेश पैदा करना है वह मनन से पैदा होगा, अध्ययन से नहीं । इसलिए जो कुछ भीतर उठ रहा है पहले मेरे मन में प्रश्न उठता है । एक शून्य या अंतराल या असंगति सामने आती है, एक प्रश्न उठता है ऐसा क्यों ? उस प्रश्न का समाधान मैं खोजता हूँ । जो समाधान खोजना है एक प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन भी है । उसका तह में जो तर्क है, वह भी है । कल्पना के माध्यम से भी कुछ चीज़ें दिखती है उसमें । अब जो शून्य है उसको भरना भी है । चूँकि मंन में बहुत कुछ चलता है, लिखने में समय भी लगता है । जबतक मन में पककर तैयार नहीं हो जाता लिखा क्या जाएगा । लिखा तो कुछ भी नहीं जाएगा । यह ज़रूरी है कि वह आपके मन में इतना पक जाए, इतना आन्दोलित कर दे कि अभिव्यक्ति के बिना गुज़ारा नहीं । यह परिस्थिति मेरी मौलिक बात नहीं है । विज्ञान भी मानता है कि सृजन प्रक्रिया जो हमारे लिखने की स्थिति है लगभग संतान उत्पन्न करने वाली स्थिति है । जैसे उसमें गर्भाधान होता है इसमें विचार का बीज-वपन होता है । जिस तरह से संतान भ्रूण गर्भ में पलता है, पलने को प्रोसेस कहते हैं तो वह माँ का रक्त पीता है । मतलब जो कुछ उसको लेना है माँ से लेना है । माँ बाहर से खाने-पीने का जो भी ले वह उसके स्वास्थ्य पर निर्भर करता है । उसी प्रकार विचार जब मन में होता है, विचार कहिए, बिम्ब कहिए, थीम कहिए लेखक के मन में जब पकती है लेखक का रक्त पीती है । यह बड़ी कष्टकर स्थिति है, बेहद कष्टकर जो न आपसे उगलते बने, न निगलते बने । अगर आप इतने दुखी हो जाएँ, आपको कुछ भी न सूझे, दिमाग़ फटने लगे तो क्या आप सोचेंगे उसे छोड़ दिया जाएगा ? उसे छोड़ा नहीं जाएगा । माँ गर्भवती है, कष्ट में हो, सोचे नहीं चाहिए मुझे यह संतान । क्या वह उसकी हत्या कर देगी ? संतान को जन्म देना ही पड़ेगा । नहीं तो गर्भपात वाली स्थिति हो जाती है जो और भी पीड़क होगी । ठीक यही स्थिति रचना के साथ भी है । रचना को जन्म

देने के पूर्व जो तनाव है उसको झेलना ही पड़ेगा । झेल लेने के पश्चात् जैसा मैंने इससे पहले के प्रश्न के उत्तर मे कहा था कि जिस समय पककर वह आता है, रूप, आकार और एक जीवन्त सत्ता के रूप मे आपके सामने आ जाता है । दूसरे शब्दों में सहज रूप में प्रसव वेदना सह ली । एक बार प्रसव हो गया उसके बाद शांत स्थिति है । अलग-अलग लेखक की प्रक्रिया अलग-अलग होती है । कुछ रचनाकार एक बार में लिख लेते हैं । भगवान ने मुझे ऐसी प्रतिभा नहीं दी । मैं एक बार लिखता हूँ, उसे देखता हूँ। दूसरी बार लिखता हूँ । तीसरी बार लिखता हूँ । तीन बार यह प्रक्रिया दोहराता हूँ । किसी रचना के साथ अपवाद हो सकता है । लेकिन काग़ज़ पर उतारकर रचना में उतारने की, जोड़ने की, काटने की गुंजाइश बहुत होती है । मेरे साथ कुछ ऐसा भी होता है मेरे मन में जो कुछ भी आया, पककर तैयार होकर आया, काग़ज़ पर उतर भी गया । किन्तु मेरी प्रवृत्ति उसके और ज़्यादा अलंकरण की, स्वच्छता की होती है । तीन ड्राफ़्ट तो मैं करता हूँ चाहे कितनी बड़ी रचना हो । राम कथा कहिए, महाभारत कथा लें तीन-तीन बार मैंने अपने हाथ से लिखा है । उसका यानी लिखने से पहले, काग़ज़ पर उतारने से पहले उसका पकना ज़रूरी है ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं जिनके लिए क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

जो क्षण कौंधता है वह सबके साथ होता है । जिसे मैंने इलेक्ट्रिक शाक माना है । जो क्षण कौंधता है इससे पहले बादल छाए रहते हैं । बिल्कुल शून्य में रचनाकार नहीं पहुँचता है । पहले से जो चीज़ें आपके पास हैं, अलग-अलग रूपों में कौंधने वाला क्षण टुकड़ों को जोड़कर एक आकार दे देता है । कई बार ऐसा वर्षों से मेरे मन में कुछ घूम रहा है । कभी भी इतना पककर नहीं आया कि मैं उसे लिख सकूँ । अचानक ऐसा कुछ घटित हुआ कि वह स्पष्ट आकार लेने लगा । अचानक घटित होना कोई घटना न होकर बाहरी आग्रह से भी हो जाता है । प्रकाशक के बार-बार आग्रह करने से अवचेतन में जो फाइल नीचे दबी रखी थी, हठात् ऊपर आ जाती है । लगता है, अरे! यह रचना तो तैयार है । अब यह कहा जाए **यह उस क्षण कौंध गया** प्रकाशक, सम्पादक या किसी मित्र के आग्रह से कौंध गया, ऐसा नहीं है । पैदा तो वह पहले से हो चुका है । पल रहा था । आपके पास था जैसे नहला-धुलाकर, धो-पोंछ करके वह क्षण लाया गया । मेरे साथ अक्सर होता है कि आत्मकथात्मक चीज़ें आम तौर पर इस प्रकार होती हैं कि मेरे साथ वह घटित हुआ, मेरे जीवन में वे चीज़ें आईं । मेरे भीतर तो है, संस्मरण-स्मृति के रूप में । सबके पास अपना जीवन होता है, किन्हीं कारणों से स्मृति में से एक टुकड़ा काटकर समझा कि यह रचना है, उसको लिख लेते हैं । इस तरह के क्षण हर लेखक के मन में आते हैं । परन्तु ऐसा अनुभव मेरा नहीं है कि उस क्षण में वह पैदा हो जाता है, जुड़ता है, पकता है, धुलकर सामने आता है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है उसके लिए उससे ही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

दरअसल लेखन जो है, आरम्भ में ऐसा लग सकता है कि मैं अपनी इच्छा से, अपने नियंत्रण में लिखता हूँ । किन्तु जैसे ही आप रचना के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं, उसको सोचने-समझने लगते हैं कुछ बड़ी रचनाओं का निर्माण होने लगता है । यह अवश्य समझ में आने लगता है– सारा लेखन अवश है, अपने वश में नहीं है । अपने वश में होता तो कोई भी लेखक कभी नहीं चुकता । जो चुक जाते हैं जिनको कुछ भी नहीं सूझता है क्यूँ ? अगर उनके अपने वश में होता तो हर लेखक अपनी रचना से बेहतर रचना देता । ऐसा क्यों होता है वह अवरोह पर आ जाता है श्रेष्ठतर देने की जगह निकृष्ट रचना देने लगता है । इसका मतलब उसका वश उसपर नहीं है । यह प्रक्रिया सारी कलाओं के साथ होती है । इसे प्रेरणा (Inspiration) कुछ और शब्द कहें अपने वश में होती तो आप हमेशा ही प्रेरित होते रहते । इसलिए यह अवश क्रिया तो है । मैं नहीं मानता आप लिखना कुछ और चाहें, लिखा कुछ और जाए । सृजन प्रक्रिया में जैसे लोग कहते हैं आन्दोलन के दौरान नेता पैदा हो जाता है उसी प्रकार लेखन के दौरान विचार पैदा हो जाता है । लिखते-लिखते जैसा मैंने कहा टहनियाँ फूटती हैं, उसमें पत्ते फूटते हैं कलियाँ चटखने लगती हैं लगता है यह तो ज़्यादा सुन्दर फूल बन गया । जो मैं सोच के चला था लिखना रोकर लिखने को नया मोड़ दे दिया । ऐसा कभी-कभी होता है, हमेशा नहीं । यह खंड जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, अभिव्यक्ति के लिए सही शब्द नहीं मिलते मतलब रचना पूरी पकी नहीं । यदि पक जाती सहज रूप में भाषा मिलती, शब्द भी । जिस चीज़ को मैं रेखांकित करना चाहूँगा कि शब्द तो मिल ही जाते हैं । सादृश्य के रूप में उपमाएँ मिलती हैं, उदाहरण उसमें से पैदा होते हैं, लगता भी है एक ही उदाहरण में सारी बातें स्पष्ट हो गई । ऐसा लिखने के दौरान ही होता है पहले से आप सोचकर नहीं बैठते ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था, उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

शब्द-स्खलन की जगह आप पूरी रचना को लेकर चलें मेरा अनुभव है इसमें दो-तीन बातें ज़रूरी है कि रचना का आकार क्या है । अगर रचना छोटी है जिसे एक बैठक, दो बैठक, तीन बैठक में समाप्त करते हैं तो उस समय ज़रूरी है किसी प्रकार की बाधा न आए क्योंकि लेखक एकाग्रता की स्थिति में होता है । यह समाधि की स्थिति है यानी बाहर का सब बंद है, अपने भीतर गहरे रचनाकार उतरता चला जाता है । कभी कहा जाता है मूड उखड़ गया । मैं कहता हूँ कि एकाग्रता भंग हो गई । एकाग्रता भंग होने से सूझ की

प्रक्रिया गहरे उतरने की वहीं रूक गई । दुबारा वह हो पाएगा या नहीं, इसमें संदेह है । जैसे **राम कथा** मैंने छः वर्षों मे लिखी । **महासागर** का आरम्भ नौ-दस वर्ष पहले से हुआ है । बीच-बीच में छोटी-छोटी रचनाएँ भी आईं । यदि मैं चाहूँ आठ-दस वर्ष में मुझे एक रचना पूरी करनी है, कोई मुझसे बात न करे, घर में रोग-शोक न हो, नौकरी न हो, घर मे खुशी न हो यह संभव नहीं है । समाधि इतनी लम्बी नहीं हो सकती । ऐसी रचना को मानकर चलना होगा कि अन्डरकरेन्ट के रूप में मन में निरन्तर सोते-जागते रहेगी ही, ऊपर जो मर्जी होता रहेगा । आप खाना भी खा रहे हैं, मित्रों से भी मिल रहे हैं, रोग-शोक भी है किन्तु जो आपके भीतर निरन्तर चल रही है वह जोर पकड़ेगी ऊपर आ जाएगी । तूफ़ान थमेगा वह नीचे से ऊपर आ जाएगी । उसमें यह कल्पना नहीं की जाएगी कि शब्द स्खलन हो जाएगा । एक शब्द की बात ही क्या है चरित्र, चिन्तन, विचार, बिम्ब बहुत कुछ चीज़ें हैं । जो कम समय में पकी है कम समय में तिरोहित भले हो जाए जिसे पकने में वर्षों लगे हैं छोटी-मोटी बाधा से जाती नहीं है । **प्रेमचंद** के विषय में कहा जाता है उपन्यास लिखते समय उनसे कोई मिलने चला जाता था, उपन्यास लिखना बंद करके उससे बात-चीत करते रहते थे । उसके जाने के बाद फिर लिखे लग जाते थे । मैं भी अपवाद नहीं हूँ । घर का काम मैं करता हूँ । दूध लेने जा रहा हूँ, फल लेने जा रहा हूँ, बच्चों का कोई काम करने जा रहा हूँ, चल रहा हूँ मन तो मेरा रचना को ही बुन रहा है । उस समय क़लम मेरे हाथ में नहीं है, लिख नहीं रहा हूँ **मैं सड़क पर हूँ या कहीं सवारी पर हूँ और यात्रा कर रहा हूँ परन्तु मन मेरा सृजनरत है** । वह रचना बुन रहा है । अक्सर ऐसी स्थिति अधिक लाभदायक होती है कि लिखते-लिखते आप चले जाएँ तो उस बीच में काम और सहज बन जाता है ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुतं प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

अवेचतन एक पूरा सिद्धान्त है । फ्रायडवादी चिन्तन इसी पर आधृत है । यह सिद्धान्त पूरा ग़लत हो ऐसा मैं नहीं कहता आख़िर उसमें भी सत्य है क्योंकि यह एक विचारधारा है । किन्तु अधिकांश लोग मानने लगे हैं कि फ्रायड ने जो कुछ सोचा-समझा, कहा । रोगी मस्तिष्क के आधार पर निष्कर्ष निकाले गए थे । वह डॉक्टर था । उसके पास रोगी जाते थे । रोगियों के आधार पर यह कहा जाए कि अवचेतन में आपके यह है इसलिए आप ऐसा कर रहे हैं । अवेचतन का मतलब ही है कि जो दमित है, नीचे है, जिसको आप जानते नहीं, स्वीकार नहीं कर सकते उसका दमन होने से आदमी विकृत मस्तिष्क हो ही जाएगा । उसको अवचेतन न कहकर यह कहा जाए कि आपकी सारी अनुभव पूँजी, अनुभव सामग्री आपके भतीर है, आप इस समय जो कर रहे हैं इस क्षण के कारण नहीं है आजतक का सारा जीवन है । भारतीय चिन्तन मानता है कि आपको जो जन्मजात मिला है, संचित कर्मों का फल है । आत्मा तो अनासक्त है मुक्त है । आत्मा के ऊपर जो आवरण लेकर मनुष्य आता है इस जन्म का नहीं पिछले जन्म का संचित फल है ।

आयुर्विज्ञान की दृष्टि में यह शरीर मेरा अपना नहीं मेरे दादा-दादी, मेरे नाना-नानी, मेरे पिता और पिता की हज़ारों-सैकड़ों पीढ़ियाँ गुज़री । उनके जीन्स, उनके कण, उनके रक्त के माध्यम से ये सब मेरे शरीर में आए वह सबकुछ इस शरीर में है । जो प्रकट है वह तो है जो अप्रकट है आगे मेरी संतान में जा सकता है । उसी प्रकार अनुभव सम्पत्ति एक क्षण की तो नहीं हो सकती उसमें अगली-पिछली सारी पूँजी इकट्ठी है । जो कुछ इस समय मैं कहूँगा प्रतिक्रिया होगी किन्तु व्यक्तित्व और अतीत मेरे साथ है । इसको अवचेतन कहना कहां तक उचित है, यह मैं नहीं जानता हूँ । मैंने फ्रायड का न अध्ययन किया है, न ही मैं उसका अनुयायी हूँ . रचना कर्म में अतीत साथ में होता ही है इसमें मुझे सन्देह नहीं है ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा है । कुछ का कहना है कि वह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीज़न से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं । कृपया अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में विस्तार से लिखे ।

रचना प्रक्रिया की कुछ संश्लिष्ट चीज़ें हैं, जो मुझे समझ में नहीं आती, उसकी चर्चा मैं नहीं कर सकता । किन्तु जिसे आपने पारदर्शी कहा है जो मेरी समझ में आती है अनुभव में आती है, मेरे साथ घटित हुआ उसकी चर्चा कर सकता हूँ । इसे सृजन प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया दो रूपों में समझिए । आमतौर पर इसे पर्याय रूप में हम ग्रहण करते हैं किन्तु सृजन प्रक्रिया यदि वह है जो आपके मन में घटित हुआ और रचना प्रक्रिया मान लें आप उसे लिखने बैठ गए । रचना प्रक्रिया में लोग पूछते हैं आप सुबह लिखते हैं या रात को लिखते हैं । क़लम से लिखते हैं या टाइपराइटर पर । यह सारी चीज़ मिलकर रचना-प्रक्रिया है जो मुझे शरीर से करना है । सृजन जो मेरे मन में है वह अवश है । रचना प्रक्रिया को आप नियंत्रित कर सकते हैं । जैसे कुछ लोग चाय-कॉफी या सिगरेट यानी एक विशेष मुद्रा में काम करते हैं, मेरे साथ ऐसा नहीं है । संयोग कहूँ कि मेरे साथ कोई बंधन नहीं है । लिखने के लिए सन्नाटा हो, घर में कुछ काम नहीं होगा, ऐसा मैंने नहीं चाहा । एकान्त में जाकर लिखना मेरे लिए संभव नहीं । लोगों से निमंत्रण भी मिला, सुख-सुविधा का लालच भी दिया । मुझे लगता है कि परिवार से अलग हटकर महीने भर में कितना कर लूँगा । यह मेरी रचना-प्रक्रिया का अंग नहीं है । अलग-अलग रचनाओं के साथ अलग-अलग चीज़ें होती है । जितनी स्त्रियाँ संतान को जन्म देती हैं क्या सबका अनुभव एक ही है क्या ?

आपके इस प्रश्न में सविस्तार मेरी रचना-प्रक्रिया जानने की जिज्ञासा है । रचना-प्रक्रिया यानी मेरी सृजन पद्धति । 1957 ई. में मैंने मैट्रिक की परीक्षा पास की और मेरे सामने अपने जीवन का पहला गम्भीर निर्णय लेने की आवश्यकता आ खड़ी हुई । सत्तरह वर्षों की वय तक मैंने कोई निर्णय ही न लिया हो, ऐसा तो नहीं है, किन्तु कोई गम्भीर निर्णय तो शायद तब तक नहीं ही लेना पड़ा था । मेरा विचार है कि तब तक शायद मेरे माता-पिता ने भी मेरे विषय में कोई गम्भीर निर्णय नहीं लिया था । शायद वे लोग निर्णय लेने की स्थिति में ही नहीं थे । उनके पास शायद कभी कोई विकल्प ही नहीं था । विकल्प के अभाव में निर्णय कैसा ? जो निकटतम स्कूल, वही मेरा स्कूल था । जो विषय सब पढ़ते थे, वे ही मुझे पढ़ने थे । गली के बच्चे जहाँ खेलते थे और जो भी खेलते थे....वह सब मुझे भी खेलना था । जो कपड़े मेरे माता-पिता बनवा सकते थे, वे ही मुझे पहनने थे और जो दाल-सब्जी, राशन की दुकान और बाज़ार में, उनकी आर्थिक पहुँच के भीतर उपलब्ध थी, वही हमारा भोजन था ।

उनका स्वप्न मेरे लिए भी वही था, जो अपनी प्रत्येक संतान के विषय में था । बहुत बड़ा आदमी बनने का स्वप्न । बहुत बड़ा का अर्थ था सम्पन्नता, पर उसके साथ-साथ सचरित्रता की भी माँग थी । वे शायद नहीं जानते थे और शायद आज भी नहीं जानते हैं कि धन और चरित्र दोनों साथ-साथ नहीं मिलते ।

मुझे नहीं लगता कि मेरे माता-पिता ने अपनी किसी सन्तान के विषय में सोचा हो कि वे उसे किसी विशेष प्रकार का व्यवसाय या कला सिखाना चाहते हैं, किसी विशेष खेल का अभ्यास कराना चाहते हैं, किसी विशेष प्रकार के कपड़े पहनाना चाहते हैं.....इसीलिए तो कहता हूँ कि उनके पास विकल्प थे ही नहीं । जो कुछ हो रहा था, या जो कुछ हुआ, वह उनके लिए अनिवार्य ही था ।

पर इस समय मेरे सामने, कम से कम पढ़ाई को लेकर सारे विकल्प बाँहें फैलाए खड़े थे । मैट्रिक में मेरे पास विज्ञान के विषय थे और अंक ऐसे आ गए थे कि मुझे किसी भी विषय में प्रवेश मिल सकता था और तब मैंने यह निर्णय किया कि मुझे डॉक्टर, इंजीनियर चार्टेड एकाउण्टेंट या टाऊन फ्लैनर नहीं बनना है, यहाँ तक कि मुझे आई. ए. एस. इत्यादि में भी नहीं जाना है । मुझे बनना है तो केवल हिन्दी का लेखक, और उसको लिए मुझे हिन्दी साहित्य ही पढ़ना है ।

मेरे पास न तब कोई तर्क था और न आज है कि मैं लेखक क्यों बनना चाहता था । कोई लेखक बनने के लाभ पूछना चाहे तो शायद व्यावसायिक संसार का कोई भी लाभ मैं नहीं बता सकूँगा । मेरे पास केवल अपनी प्रकृति की पहचान और जीवनानुभव के प्रमाण है कि मुझे सिवाय लेखक के और कुछ बनना ही नहीं था ।

बनना भी दो प्रकार का होता है एक प्रकार तो वह है, जो आजकल हमारे समाज में प्रचलित है । लोग देखते हैं कि किस व्यवसाय में थोड़ी-सी इज्जत और ढेर सारा पैसा

है । सामान्यतः लोग अपने बच्चे को वही बनाना चाहते हैं और यदि बच्चा वह नहीं बन सकता तो उसे नालायक घोषित कर दिया जाता है । बनने के ये साँचे बाहर के हैं और उनका लक्ष्य मात्र धन है । इन्हीं बाहरी साँचों से परिचलित होकर ही हमारे देश में समय-समय पर वकीलों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, डॉक्टरों इत्यादि की एक भयंकर बाढ़ आती है और उसके बाद उनकी संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाती है और बाज़ार में उनकी माँग नहीं रह जाती ।

बनने की दूसरी प्रक्रिया का सम्बन्ध बाज़ार की माँग से नहीं, आत्म विश्वास से है । इसमें कोई नहीं पूछता कि आजकल अच्छी नौकरी किस डिग्री या कोर्स के साथ जुडी हुई है ? इसमें पूछा जाता है कि प्रकृति ने किसे क्या बनाकर भेजा है । मोर सुन्दर पक्षी है, पर शेर का बच्चा मोर बनने का प्रयत्न नहीं करता, शेर, वन का राजा है, पर मोर अपनी सन्तान को शेर नहीं बनाना चाहता ।

मेरी रूचि मशीन अथवा मानव शरीर की अपेक्षा मनुष्य के भाव-संसार में अधिक थी । और शब्द मेरे लिए सब से सहज और आत्मीय उपकरण थे । इसीलिए मैं कविताएँ, कहानियाँ और निबन्ध लिखता था, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में जाता था और नाटकों में भाग लेता था । साहित्य परिषद् और लेखक-मण्डल की गतिविधियाँ, मुझे किसी भी मनोरंजन से अधिक प्रिय थीं ।

मैंने यह भी अनुभव किया कि कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में मुझसे कितना ही आगे बढ़ जाए, मुझमें तनिक भी स्पर्धा नहीं जागती, मैं अपनी प्रगति की मंथरता पर दुखी नहीं होता, किन्तु यदि किसी की रचना मेरी रचना से अच्छी बन जाती है, किसी की कृति की असाधारण प्रशंसा हो जाती है, तो मेरे मन में तत्काल तुलना जागती है, मुझे अपनी प्रगति की मंथरता पर अवश्य दुख होता है । उन दिनों भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जीवनी पढ़ते हुए उनके द्वारा सत्रह-अठारह वर्षों की वय में रची गई कविताओं की तुलना मैं अपनी रचनाओं से अवश्य करता था ।

आई. ए. से बी. ए. और बी. ए. से एम. ए. में आते हुए क्रमशः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बोले हुए शब्द की तुलना में लिखा हुआ शब्द अधिक महत्वपूर्ण है । बोला हुआ शब्द तबतक दीर्घजीवी नहीं हो सकता जब तक कि उसे लिपि का सहयोग न मिल जाए । बोला हुआ शब्द बहुत कम लोगों के लिए, बहुत कम समय के लिए उपयोगी होता है, इसिलए वक्ता उस पर अधिक श्रम नहीं करता । किन्तु लिखा हुआ शब्द हज़ारों वर्षों तक, लाखों-करोड़ों लोगों के लिए उपयोगी होता है । इसलिए लेखक अपने शब्दों को हल्के तौर पर उनके सामने प्रस्तुत नहीं कर सकता । उसे अपने शब्दों का साधक बनना पड़ता है । वह पहले अपने शब्दों को सिद्ध करता है, तब उन्हें पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है । जिन शब्दों के पीछे सिद्धि नहीं होती, वे लिपिबद्ध होकर भी दीर्घजीवी नहीं होते ।

शब्दों को सिद्ध करने के लिए आवश्यकता है कि उनके पीछे कपट न हो, छल-प्रपंच न हो, वे लोभ अथवा त्रास से उद्‌भूत न हुए हों । शब्द चारण या याचक न हों । वे सत्य हों, वे सत्य सिद्ध हों ।

मेरे मन में क्रमशः स्पष्ट होता गया कि साम्राज्यों का समर्थन पाकर भी कुछ साहित्यकार सदियां तो क्या दशक भी नहीं लाँघ पाए, और कुछ साहित्यकार समर्थ लोगों की सारी उपेक्षा के बावजूद सहस्त्रों वर्षों से जीवित हैं और आगे भी जीवित रहेंगे । मेरा मन इन निष्कर्षों के मध्य कहीं अपना मार्ग खोजता रहा ।

वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में सम्मिलित होना कम हुआ, मंच सम्बन्धी गतिविधि भी बहुत कम हो गई और निबन्ध प्रतियोगिताएँ तो छूट ही गईं ।

उन दिनों जो कविताएँ मैंने लिखई थीं, उनमें मुख्यतः प्रेम था, थोड़ा प्रतिरोध और व्यंग्य भी था । पर बहुत जल्दी मेरे समझ में आ गया कि कविता मेरी विधा नहीं है । मेरे व्यक्तित्व में कविता के तत्व ही नहीं है । इसीलिए मैंने कवि बनने का प्रयत्न नहीं किया । गद्यकारों द्वारा कवि बनने का दुराग्रह मेरी समझ में ही नहीं आया ।

आज अपनी आरम्भिक कहानियों को देखता हूँ तो लगता है कि वे अजाने ही आचरण के दोहरेपन के विरुद्ध फूटी थीं । भाई-भाभियों के आचरण की असंगतियों को लेकर, मेरी आरम्भिक कहानियाँ लिखी गई थीं । यह मेरे लिए भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं कि मैंने अपने पिता के विरुद्ध कोई भी कहानी नहीं लिखी है । वृक्षों पर लिखी गई मेरी सारी कहानियाँ उनके प्रति सहानुभूति का भाव रखती हैं । ऐसा नहीं है कि मुझे अपने पिता से कभी कोई शिकायत नहीं रही या पीढ़ियों का अन्तराल मुझे नहीं खला, किन्तु या तो वे शिकायतें बहुत अल्पजीवी रहीं या फिर उनके आचरण की बाध्यता मेरी समझ में आ गई थी ।

जीवन में दोहरेपन का प्रतिकार करने के लिए मेरी कहानियों में दो तत्व थे, घटना और कटाक्ष । जैसे-जैसे जीवन का अनुभव बढ़ता गया, मैंने पाया कि घटना, उपन्यास का रूप ग्रहण करने लगी और कटाक्ष व्यंग्य का । शायद कहानी, अपने कथ्य के लिए मुझे पर्याप्त नहीं लग रही थी । यह मैंने कई वर्षों के बाद पाया कि कहानी लेखन अनायास ही मुझसे छूट गया है । बाद में मैंने जब कभी कहानी लिखने का प्रयत्न किया, तो रचना पूरी करने के बाद देखा कि वह शुद्ध कहानी नहीं रही है, या तो वह पूरी तरह व्यंग्य में ढल गई है या फिर व्यंग्य-कथा तो बन ही गई है । यदि इन दोनों में से कुछ नहीं हुआ तो रचना अधूरी पांडुलिपियों की फाईल में पहुँच गई और उपन्यास बनने की प्रतीक्षा करती रही ।

व्यंग्य लेखन के दौरान कुछ बातें और स्पष्ट होकर मेरे सामने आईं । मुझे लगा कि अपने काम से काम रखने वाला या आवश्यकतानुसार समझौता कर लेनेवाला व्यक्ति कभी व्यंग्यकार नहीं हो सकता । व्यंग्यकार तो चिड़चिड़ा व्यक्ति ही होता है । वह वहाँ भी चिड़चिड़ा सकता है, जहाँ उसे कुछ भी लेना-देना न हो । वस्तुतः सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे साहित्यकार को कुछ लेना-देना नहीं होता । इन्हीं राहों से गुज़रते हुए मैं समझ पाया था कि साहित्यकार मनुष्य का विराट् रूप होता है । वह सृष्टि के हर कण

से तादात्म्य करना चाहता है और कर लेता है । तब कहीं भी, कुछ भी ग़लत हो रहा हो, वह उससे प्रभावित होता है और क्षमता भर प्रतिरोध करता है । साहित्यकार के इसी विराट रूप को समझते हुए मैं कृष्ण के विराट् रूप को समझ पाया था, जो कहते हैं—

यज्ञ मैं, यज्ञ संकल्प, मैं स्वधा मैं वनस्पति ।
मंत्र मैं, हव्य भी मैं ही, अग्नि मैं और आहुति ।।

पर मात्र व्यंग्य, मुझे अपने आप में पूर्ण विधा नहीं लगी । व्यंग्य-निबन्ध, व्यंग्य-कथाएँ, व्यंग्य-नाटक, व्यंग्य-उपन्यास लिखने के बावजूद मुझे **व्यंग्य** की विधा पर्याप्त नहीं लगी और मुझे उपन्यास की ओर अग्रसर होना पड़ा । किन्तु तत्काल प्रतिक्रिया के रूप में जब कभी मन में कटुता जन्मी (जो इस देश और समाज में प्रायः ही जन्मती रहती है), मैंने पाया उसे तत्काल अभिव्यक्त करने वाली समर्थक विधा व्यंग्य ही है ।

मेरे आरम्भिक उपन्यास **पुनरारम्भ, आतंक** तथा **आश्रितों का विद्रोह** उपन्यास-लेखन का अभ्यास मात्र ही रहे हैं । **साथ सहा गया दुख** से मुझे उपन्यास लेखन की कुछ समझ आनी शुरू हुई । तब से हर नए उपन्यास के साथ लगता है कि जो पूर्णता और तृप्ति उपन्यास लेखन में है, वह किसी और विधा के लेखन में नहीं है । यही कारण है कि इधर उपन्यास लिखना आरम्भ होता है उधर लेखक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसमें डूबना आरम्भ हो जाता है । उपन्यास का वैविध्य, विस्तार और गहराई उपन्यासकार के व्यक्तित्व को भी अपने ये गुण दे जाती है ।

दीक्षा लिखते हुए बीच में रूक कर मुझे **शंबूक की हत्या** नाटक पूरा करना पड़ा और तब मुझे नाटकीयता की अनिवार्यता समझ में आई । मैंने पाया कि मेरा मन कुछ घटनाओं को दृश्यों और नाटकीय परिणति के रूप में ही ग्रहण करता है । लाख चाहने पर भी उन घटनाओं को किसी और विधा में ढालना कठिन होता है । ठीक वैसे ही संवाद के रूप में जन्मी स्थितियाँ भी नाटक की माँग करती है । राम कथा सम्बन्धी उपन्यास लिखते हुए अनेक प्रसंग अत्यन्त नाटकीय हो गए हैं । पर वे उपन्यास का अंग बनकर ही आए, क्योंकि वे एक वृहद् रचना के अंश मात्र थे । यदि उन्हें अपने आप में स्वतन्त्र रचना के रूप में लिखने का प्रयत्न करता तो अवश्य ही उन्हें नाटक का रूप देना पड़ता ।

जीवन के विविध दायित्वों और व्यस्तताओं के बीच कई बार यह सम्भव नहीं हो पाता कि मन में जन्मी किसी घटना, परिस्थिति या चरित्र को त्तकाल रचना बद्ध किया जा सके । ऐसी स्थिति में उन्हें, मन में कहीं गहरे चल रही सृजन-प्रक्रिया की ओर धकेल देना पड़ता है । ऐसी दीर्घकालीन प्रक्रिया प्रायः उपन्यासों की ही सृष्टि करती है । यह प्रक्रिया अत्यन्त ईर्ष्यालु होती है । इस सारी प्रक्रिया के दौरान न तो छोटी रचनाएँ लिखी जाती हैं और न ही कुछ भी अवांतर पढ़ा जाता है । यही कारण है कि मैं आज तक किसी भी पत्रिका के लिए स्तम्भ लेखन का दायित्व स्वीकार नहीं कर सका । मैं अपने अनागत का

अनुशासन इस रूप में कभी नहीं कर पाया कि किसी सम्पादक को यह आश्वासन दे सकूँ कि मैं भविष्य में उनके लिए किसी विशेष प्रकार की रचना तैयार कर दूँगा । भविष्य का नियोजन न तो लेखक को अध्ययन का समय देता है, न नए सृष्टि रूपों के साक्षात्कार का । मैंने जो कुछ लिख लिया है, मैं उसी के विषय में निश्चित होता हूँ । अगली रचना के विषय में कभी कुछ नहीं कह सकता कि वह क्या होगी और उसका रूप क्या होगा ?

शहरी आवश्यकताएँ मुझसे कभी कुछ नहीं लिखवा सकीं । यही कारण है कि कुछ मित्र सम्पादकों की माँग के समय...बहुत चाहने पर भी...न तो मैं उन्हें कहानी दे पाया, न व्यंग्य और न उपन्यास । हाँ! कभी-कभी ऐसा अवश्य हो जाता है कि मैं कुछ लिखने की सोच ही रहा हूँ और बाहर से किसी एक चीज़ के लिए कोई गम्भीर माँग आ जाए, तो वह रचना कुछ ज़ल्दी लिखी जाती है ।

लिखने के लिए मुझे प्रातः ही अपनी मेज पर बैठ जाना पड़ता है । यदि दैनिक कृत्यों के पश्चात् मैं लिखने के लिए नहीं बैठ जाता, तो प्रायः उस दिन लेखन का काम नहीं हो पाता । प्रातः लिखने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाए तो दिन भर में आने वाले साधारण विघ्न और अन्तराल प्रायः उसे अवरूद्ध नहीं कर सकते । पर मध्य दिवस में लेखन कार्य आरम्भ नहीं हो पाता । लिखने की प्रेरणा या उसे स्टार्ट देने के लिए मुझे किसी भी नशे की आवश्यकता नहीं है । रात को तो मैं न लिखता हूँ, न पढ़ता हूँ । जिन दिनों मैं किसी लम्बी कृति पर काम कर रहा होता हूँ, प्रातः ज़ल्दी से ज़ल्दी लिखने बैठ जाता हूँ । बारह-एक बजे लिखकर भोजन और विश्राम । दूसरी बैठक ढाई-तीन बजे से आरम्भ हो जाए तो प्रवाह बना रहता है । छः बजे तक लिखा पर्याप्त होता है तब इच्छा होती है कि कोई प्रिय मित्र आ बैठे और खुलकर बात-चीत हो । सद्भावना और आत्मीयता के वातावरण में खुली बात-चीत, हास्य-विनोद मेरा सर्वोत्तम मनोरंजन है । ऐसे समय में रात के नौ और दस बजे के बीच सो जाना चाहता हूँ ताकि प्रातः फिर जल्दी उठ सकूँ ।

लिखना मेरे शरीर को थकाता है, मेरे मन को नहीं । मन तो तभी थकता है, जब क़लम का प्रवाह रूकता है । जब सृजन की गुत्थियाँ न सुलझें और रचना अवरूद्ध हो जाए तो मन थकता भी है और खीझता भी है । उस समय अशांत मन किसी के लिए भी सुखद और खुशगवार नहीं हो सकता । मुझे लगता है कि अवरूद्ध रचना के क्षण मुझे काफी असामाजिक बना देते हैं । चलती क़लम के प्रवाह का संगीत बहती धारा के समान होता है किन्तु क़लम थक जाए तो मस्तिष्क रूके जल के समान गँदला होने लगता है और तब तक स्वच्छ नहीं होता, जब तक कि अपने प्रवाह के लिए फिर से कोई निकास न ढूँढ ले ।

मुझे लगता है कि लेखन मेरे लिए समाधि की सी अवस्था है । जब तक मैं उस समाधि में हूँ, तब तक वह मेरे लिए सहज आनन्द की स्थिति है । समाधि से बाहर निकलते ही आनन्द की स्थिति भंग हो जाती है और मन-पाखी फिर से अपने बसेरे में लौट जाने के लिए व्याकुल हो उठता है ।●

कुमार रवीन्द्र

जन्म : 10.06.1940
लखनऊ (उ.प्र.)

प्रकाशित कृतियाँ :

कविता :
आहत है वन (1984)
चेहरों के अन्तरीप (1987)
पंख बिखरे रेत पर (1992)
सुनो तथागत (2002)
लौटा दो पगडंडियाँ (1990)

काव्य नाटक :
एक और कौन्तेय (1985)
गाथा आहत संकल्पों की (1998)
अंगुलिमाल (1998)

अँग्रेज़ी कविताओं का संग्रह
दि सैप इज़ स्टिल ग्रीन (1988)

सम्मान :
अखिल भारतीय गीत एवं
काव्य प्रतियोगिता
कादम्बिनी (1976)
आशीर्वाद पुरस्कार (1978)
इन्टरनेशनल मैन ऑफ़
दि इयर (1997)

सम्प्रति : शिक्षण

सम्पर्क :
क्षितिज
310, अर्बन एस्टेट - II
हिसार - 125 005

कविता मनुष्य के भाव-विस्तार की श्रेष्ठ प्रतिकृति है

कुमार रवीन्द्र ऐसे शब्द शिल्पी हैं, जिनकी जिज्ञासा उन्हें शब्द-पार के सूक्ष्म संकेतों को उकेरने में सहायक होती है, मानवीय सरोकारों से बद्ध उनके नवगीत कुछ ऐसा भी रचते हैं जो हमारी प्रकृति के विभिन्न आयामों का अतिक्रमण भी करता है, प्रकृति के संश्लिष्ट रहस्यों का अनावरण भी करता है । इसलिए उनकी यह मान्यता कि मनुष्य की कल्पना का समूचा रूपाकार कविता में ही पूरी तरह अवतरित होता है, हो पाता है निराधार नहीं है । उनके अनुसार काव्येतर जो भी विधाएँ हैं, वे भी अंशतः काव्याश्रित होती हैं । काव्य-तत्व ही उन्हें विज़न या वह अन्तर्दृष्टि देता है, जिससे वे देश-काल की सीमाओं को लाँघ जाती हैं । संभवतः यही कारण है कि कुमार रवीन्द्र ने काव्य-नाटक भी लिखे और चित्रकला की ओर भी उनका झुकाव हुआ ।

कुमार रवीन्द्र के नवगीतों को बार-बार पढ़ने पर मुझे प्रतीत हुआ कि वे दार्शनिक कवि हैं-– छोटे-छोटे वाक्यों, घटनाओं, बिम्बों में बड़ी बात कहने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है, मानवीय सूक्ष्म संवेदनों को व्यक्त करने की उनमें अचरज भरी पकड़ हैं—

हँसा बच्चा/
फूल सारे खिल गए थे/
सामने के पेड़ पर/
कोई सपना गुनगुनाया/
कहीं भीतर/
राग आदिम छेड़कर/
नया अनुभव/
किसी बच्चे ने कहा था–अंकल/

महानगरी में

उनका एक गीत हाँ, कल ही तो है तो प्रेमगीत, किन्तु उसकी कुछ पंक्तियाँ क्या केवल प्रेम का अनूठा वर्णन हैं ?

साँझ हुए था हुआ स्वयंवर
धरती ने आकाश वरा था
अपने आँगन के बरगद का
अक्स धूप में हुआ हरा था

मनुष्य होने की पहली और आख़िरी शर्त कविता ही है को मानने वाले कुमार रवीन्द्र जब यह कहते हैं कि जब तक मनुष्य की वृत्तियाँ, उसकी अभीप्साएँ उसके भाव-संज्ञान शेष हैं, कविता नहीं मर सकती, तो उनके स्वर के साथ अपना स्वर भी सहज ही मिलाना पड़ता है क्योंकि कविता मनुष्य के भाव-विस्तार की श्रेष्ठ प्रतिकृति है । ●

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

सन् 1958 की घटना है । मेरे एक मित्र ने मुझसे फरमायश की कि मैं उन्हें अँग्रेज़ी में प्रेम-विषयक कुछ 'कपलेट' उपलब्ध करा दूँ । मैंने अट्ठारहवीं शती के अँग्रेज़ी भाषा के काव्य से, जो मुख्य रूप से हीरोइक कपलेट का काव्य था, उन्हें तलाशने की कोशिश की, अंततः न मिलने पर स्वयं ही कुछ 'कपलेट' रच डाले । मित्र के लिए वे कितने उपयोगी रहे, मुझे नहीं पता, किन्तु इससे मुझे अवश्य एहसास हुआ कि मैं कविता लिख सकता हूँ और फिर पहले अँग्रेज़ी में और उसके उपरांत हिन्दी में कविता लिकने का सिलसिला शुरू हो गया । बचपन से चित्रकला का शौक था । कविता में भी बिबात्मकता मुझे प्रिय हुई । प्रारंभिक

कविताएँ चित्रांकन जैसी रही । 1960 के आस-पास मैंने महाभारत के ययाति उपाख्यान पर एक खंड काव्य लिख डाला । बाद में उसे श्रद्धेय पं. सोहनलाल द्विवेदी का शुभाशीष भी मिला, हाँलांकि अद्यतन वह अप्रकाशित है । वैसे बचपन से ही परिवार में कविता और लय का माहौल मिला । अम्मा 'रामचरितमानस' का रोज़ प्रातः सस्वर पाठ करतीं थीं । पिता राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त की रचनाएँ हर रविवार पूरे परिवार को इकट्ठा कर सुनाते थे । चाचा बच्चन जी के गीत और सहगल के गाने गाते थे । बाद में प्रसाद जी मेरे प्रिय रचनाकार बने । उनका लगभग सम्पूर्ण साहित्य मैंने बी. ए. तक पढ़ डाला था । 'आँसू' मुझे पूरा कंठस्थ था । इसके अलावा सूर, कबीर, मीरा के पदों को गाना मुझे अच्छा लगता था । यह सारी पृष्ठभूमि कविता के स्फुरण का आधार बनी ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड फ़ील (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

यह सही है कि कविता भावात्मक तनाव से उपजती है और उसकी रचना-प्रक्रिया के दौरान एक गहन आत्मस्थिति होती है, किन्तु इस आत्म-समाधि की दशा में एक आंतरिक जागृति होती है । अस्तु, बाह्य जगत के अनुभवों का उन क्षणों में विलोपन हो जाता है या उनकी अनुभूति सतही और छिछली रहती है । मेरी राय में, कविता व्यक्ति को नितांत एकाकी करती है । यह निराग्रह एकांत भाव ही काव्य-रचना की सही भावभूमि है, कविता के भावन-मनन की भी ।

परिवेश और रचना के अंतःसंबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

परिवेश यानी सामाजिक संचेतना । हाँ, कविता का इससे सरोकार तो है, किन्तु यह सरोकार काफ़ी जटिल है । अंततः सामाजिक सरोकार भी कविता होते-होते एक रागात्मक संबोध में परिवर्तित हो जाता है, जिसका भोक्ता सर्जना के क्षणों में केवल कवि होता है । इसे यदि आत्म-साक्षात्कार कोई कहना चाहे, तो कह सकता है । जिस 'आत्मन' से कवि रू-ब-रू होता है, वह सर्वाग्रही होता है । अस्तु, उसमें वैयक्तिक अहंकार शेष नहीं रह जाता ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं?

कविता का स्वतः आना या उसका स्वयंभू होना उस मानसिकता से जुड़ा है, जो तात्कालिक नहीं होती । कविता का प्रस्फुटन आकस्मिक होता है, किन्तु उसका संभाव कितने पहले का है, कहना कठिन है । अनुभव से अनुभूति बनने की प्रक्रिया को कुछ अंतराल तो चाहिए ही । भाव-विखलता में कविता नहीं हो सकती । भाव को कविता बनने

में समय तो लगता ही है । पूर्वापर प्रसंगों-संदर्भों का भी कविता की भाव-निर्मिति में महत्वपूर्ण स्थान होता है । इस नाते कविता को शुद्ध क्षणानुभूति से उपजी वस्तु मानना सही नहीं है ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

आकस्मिकता, जैसा मैंने पिछले प्रश्न के उत्तर में कहा है, क्षण मात्र होना नहीं है । वह तो सर्जना की एक सतत प्रवाहित अंतर्धारा के अकस्मात् सामने आ जाने जैसा है । ही सही है कि क्षण-विशेष में ही कविता की कौंध होती है या यों कहें कि कविता की कौंध किसी क्षण को विशिष्ट बना देती है । आकस्मिता कविता के संदर्भ में क्षण के पार अनन्त काल से अनायास जुड़ जाना है । यह क्षण-बोध से ऊपर होना है, तत्कालीन से शाश्वत होना है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

हर रचना की नियति यही है । इसे अवशता नहीं कहा जाना चाहिए । अनुभूति का अर्थात् तो शब्दातीत ही होता है । अच्छा यही है कि रचना को अनी दिशा लेने दिया जाए । साग्रह किन्हीं अर्थों अथवा मंतव्यों को कविता पर लादना कविता की सहज सर्जना को बाधित करना है । अंततः तो हर रचना अधूरी ही रहती है और यही उसकी स्वाभाविक स्थिति है । अगर रचना संतुष्टि दे दे पूरी तरह से, तो उसके बाद कुछ भी कहने को शेष नहीं रह जाएगा ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

ऐसा कोलरिज़ के साथ 'कुबला खान' की रचना करते समय हुआ । इसे शब्द-स्खलन न कह कर रचना-स्खलन कहा जाए, तो ज़्यादा सही होगा । मेरी राय में, अवचेतन में छिपे तमाम कविता-बीज एक-साथ अंकुरित होने को सचेष्ट रहते हैं, अंततः सर्जना के एक क्षण में एक ही कविता । बीज तो अंकुरित होने का मौका पाएगा । अन्य कविता-बीज बाद के किसी अवसर की प्रतीक्षा में रहेंगे । कई तो क्षीण होकर समाप्त भी हो जाएँगे । अस्तु रचना-स्खलन तो अवश्यम्भावी है । हाँ, बाहरी हस्तक्षेप से रचना में जो व्यवधान आता है, हम समझते हैं कि कविता का मर्म उससे आहत और खंडित हुआ है । किन्तु यह भी तो

संभावना है कि व्यवधान के बाद या बावज़ूद रचना ने जो स्वरूप अख़्तियार किया है, वही उसका सही आकार हो । शब्द-स्खलन को भी इसी संदर्भ में लेना चाहिए ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

क्त हाँ, अवचेतन की, जो सामूहिक अवचेतन यानी परंपरा का अविभाज्य हिस्सा है, किसी भी रचनाकार की सहजानुभूति के निर्माण में महती भूमिका होती है । रनचा की सर्जना में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान रहता है ।

अपनी रचना प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं ?

मेरी राय में, जिन तीन मंतव्यों का आपने ज़िक्र किया है, वे तीनों ही कुछ हद तक रचना-प्रक्रिया को परिभाषित करते हैं । रचना अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व निश्चित ही निर्वाक होती है । अंदर एक कुहासे का घना बादल-सा होता है, जिसमें सर्जा की अनुभूति छिपी या, कहना चाहिए, क़ैद होती है । सर्जना उससे मुक्त होकर अव्यक्त से व्यक्त होना चाहती है । यह इतना आसान नहीं होता । अंदर क्या-क्या उठा-पटक चलती है । रचना को कितने व्यूह तोड़ने पड़ते हैं, कहना कठिन है । यहीं से भाव-संज्ञान को निरूपित करना शुरू होता है । पहले एक धुंधली-सी आकृति उभरती है, जिसे पहचानना भी मुश्किल होता है । अकस्मात् भाव-ऊर्जा की कौंध सूक्ष्म प्राण-बिंबो का आकार ले लेती है । ये आकार कवि के सचेतनपन में इतने स्पष्ट होकर उभरते हैं कि उनके वस्तुगत शब्द-बिंब स्वतः ही उभर आते हैं । धीरे-धीरे अवेचन-सचेतन के पारस्परिक संघात से पूरी रचना शब्दाचित होती जाती है । इसे जल के संश्लिष्ट तरल अन्वेषणात्मक स्वरूप के सामानान्तर माना जा सकता है । वैसे कविता की सर्जना-प्रक्रिया किसी भौतिक रासायनिक प्रक्रिया जैसी पारदर्शी और अन्वेषण-सरल नहीं होती है । उसमें पुरी मानुषी किंवा समग्र सृष्टि-चेतना का संश्लेषण होता है । कविता की रचना-प्रक्रिया इसीलिए विश्लेषण से परे होती है और प्रश्न मेरी रचना-प्रक्रिया का! जब कोई अनुभव या भाव-संवेग मेरे भीतर कविता होने को उत्सुक होता है, तो सबसे पहले वह एक भाव-ऊर्जा की सृष्टि करता है, जो अंदर-अंदर से बेचैन करती है । फिर एक दिन अचानक वह जिद्दी भाव-ऊर्जा लय बनकर रक्त में बहने लगती है और वही लय एक पंक्ति बनकर सचेतन में उभर आती है । ज़रूरी नहीं कि वह पंक्ति कविता का मुखड़ा या आरंभ ही हो और फिर एक समाधि या नशे की स्थिति में पूरी कविता एक शक़्ल अख़्तियार करने लगती है । मेरी राय में, हर कवि को ऐसी ही अनुभूति होती है ।●

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

जन्म : 15.06.1940
भेड़िहारी (रायपुर भैंसही)

प्रकाशित कृतियाँ :
कविता
चीज़ों को देखकर (1970)
साथ चलते हुए (1976)
बेहतर दुनिया के लिए (1985)
आखर अनन्त (1991)
आलोचना
छायावादोत्तर हिन्दी गद्य साहित्य (1968)
नये साहित्य का तर्कशास्त्र (1975)
आधुनिक हिन्दी कविता (1977)
समकालीन हिन्दी कविता (1982)
रचना के सरोकार (1987)
हजारी प्रसाद द्विवेदी (1989)
कविता क्या है (1989)
गद्य के प्रतिमान (1996)
सम्पादन
अज्ञेय (1978)
हजारी प्रसाद द्विवेदी (1980)
प्रेमचन्द (1980)
आठवें दशक की हिन्दी कविता (1982)
राम विलास शर्मा (1985)
रामचन्द्र शुक्ल (1985)
मुक्तिबोध (1986)
आठवें दशक की हिन्दी आलोचना (1991)
जयशकर प्रसाद (1992)
निराला (1997)
महादेवी रचना संचयन (1998)
तुलसीदास (1999)

अब भी यही सच है
कि अभी एक गीत मुझे और लिखना है ।

दस्तावेज़ के 100 और 101 अंक का प्रकाशन हुआ । **डॉ. विश्वनाथप्रसाद तिवारी** ने मुझे इसकी प्रतियों के साथ रचना-प्रक्रिया संबंधी प्रश्नावली के उत्तर भी भिजवाए । एक साहित्यिक पत्रिका का एक अंक निकालना ही बड़ा कठिन कार्य होता है । यह कार्य सम्पादित होने पर 'स्वयं कर्त्ता को ही आश्चर्य होने लगता है कि कैसे उसने यह कार्य पूरा कर लिया' किन्तु सर्जक की सृजन प्रक्रिया के कारण ही ऐसे ऐतिहासिक कार्य पूरे हो पाते हैं । कवि, समीक्षक और सम्पादक **डॉ. विश्वनाथप्रसाद तिवारी** ने अपने इन विविध पक्षों के माध्यम से स्वयं को सदैव चरितार्थ करने की चेष्टा की है । 'महाप्रकृति ने मुझे यदि इस पृथ्वी पर रख दिया है तो मेरी लोकयात्रा कैसे पूरी होगी ? यदि किन्हीं कारणों से शब्द का माध्यम मुझे मिल गया है जो हिंसा का विकल्प है, तो मुझे उसकी सत्ता भी प्रमाणित करनी चाहिए ।' सृजन मनुष्य का आधार तत्व है । मनुष्य जिस व्यापक चेतना का अनेक स्तर पर अनुभव करता है शब्दों के सहारे ही उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है । **दस्तावेज़** एक साहित्यिक पत्रिका ही नहीं है । एक सर्जक के चेतन मानस की कृति है जिसका सत्य ज़्यादा व्यापक है । **विश्वनाथजी** का भी मानना है कि 'कृतिकार के जीवन की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण घटना तब घटती है जब कृति स्वयं कृतिकार से बड़ी हो जाती है । मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि एक समय के बाद 'दस्तावेज़' मुझसे बड़ी हो गई । इसने मुझे वहाँ पहुँचाया जहाँ मेरी पहुँच नहीं हो सकती थी । इसने मुझे बड़ा ज़रूर बनाया मगर अपने से छोटा कर दिया । छोटा ही नहीं अपना अनुगामी भी ।'

विश्वनाथजी का यह कवि हृदय ही है जो सचेत कर्म के माध्यम से निरन्तर रचना-रत है । उनका कथन है कि 'रचना में जो फूल होता है वह कवि से होकर ही आता है उसपर कवि के स्पर्श की छाप होती है ।' संवेदनशीलता, ग्रहणशीलता और सर्जनशीलता ही उसकी रचना में रचनात्मक अस्तित्व ग्रहण करती है । **अज्ञेय** की पंक्तियों में कहें –

> **अब भी यही सच है**
> **कि अभी एक गीत मुझे और लिखना है ।**

कवि **विश्वनाथजी** के लिए कविता एक सृजन है । एक भट्ठी है, मनुष्य के अंतर्जगत् की खोज है, एक क्रिया है । यह कोई अदालती बयान या अखबारी विवरण नहीं क्योंकि कवि की सर्जनात्मक भूमिका सदैव सक्रिय होती है एवं 'सृजन की इच्छा और अर्थ की खोज मनुष्य की ऐसी बुनियादी विशेषताएँ हैं जो उसे पशु से अलग करती हैं' और कविता के शब्दों में अर्थ होता है । यह अर्थ कविता को बाह्य संसार से जोड़ता है । अर्थ के बिना कविता नहीं होती ।

विश्वनाथजी को शब्द की सत्ता से साक्षात्कार हो गया है । शब्द जो एक नये संसार का द्वार है – एक मानवीय संसार का – सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा के संसार का । ●

जो रचनाकार भाव और संवेदना से प्रेरित होकर रचते हैं
उनके लिए रचना के क्षण का विशेष महत्व होता है

कुछ लिखना है यह अनुभूति कब हुई आपको ? यानी कोई महत्वपूर्ण घटना, जिसका सीधा प्रभाव आपकी रचना पर पड़ा हो ?

कुछ लिखा है — यह अनुभूति कब हुई, इसे मैं बता नहीं पाऊँगा । इसलिए कि यह मेरी इच्छा से नहीं हुआ । वे विरले लोग होंगे जो तैयारी करके अपनी इच्छा से लेखक बनते होंगे । मेरा अनुभव यह है कि व्यक्ति में लेखक होने का बीज जन्म से होता है । मेरे साथ कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना भी नहीं जुड़ी है जिसका प्रभाव मेरी रचना पर पड़ा हो । मेरा लिखा बहुत सहज ढंग से अनायास घटित हुआ । अनायास ही मैंने दो कविताएँ लिख डालीं जब मैं इण्टरमीडिएट का विद्यार्थी था – 1956-57 में ।

रचना पूरी हो जाने पर प्रायः रचनाकार रिलैक्स्ड (आत्म संतोष का अनुभव) करता है पर रचते समय आपने क्या महसूस किया ?

रचना पूरी हो जाने पर रचनाकार तनावरहित महसूस करता है । यह बात सही है । बल्कि उसे तनाव रहित न कहकर मुक्ति का आनन्द कहें । रचते समय रचनाकार भरा होता है । उसे कुछ व्यक्त करना होता है । रचना उसकी अभिव्यक्ति है । अभिव्यक्ति के बाद वह मुक्त हो जाता है और एक खुशी से भर जाता है । रचते समय या रचना की मनःस्थिति में वह उपयुक्त शब्द और शिल्प की तलाश में होता है । उसके भीतर अभिव्यक्ति की एक छटपटाहट, एक बेचैनी होती है जो कि अन्य सांसारिक अकुलाहटों से अलग होती है । एक विशेष स्तर की । यह शोक जैसा नहीं होता मगर एक बोझ जैसा ज़रूर होता है ।

परिवेश और रचना के अंतः संबंधों पर अनेक बार चर्चा हुई है। किन्तु क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि रचते समय आपके सामने केवल आप थे ? (यानी आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ?)

रचते समय अपने सामने रचनाकार ही होता है । पर एक परिवेश के साथ । परिवेश के बिना रचना या रचनाकार की कल्पना अधूरी है । लेकिन यह रचना की प्रकृति पर निर्भर करता है कि कैसा परिवेश और कितना परिवेश । पद और पदार्थ का अविभाज्य संबंध है । **गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न** । आत्म-साक्षात्कार की स्थिति वस्तुतः सत्य के साक्षात्कार की स्थिति होती है । रचना के क्षण में रचनाकार चीज़ों का सही रूप में — उनके निर्वसन प्रकृत रूप में — साक्षात्कार करता है और यह सही है कि उस समय चीज़ें उसे जितनी अपने असली रूप में दिखाई पड़ती हैं उतनी अन्य रूपों में नहीं । आचार्यों ने उसे अपूर्व दीप्ति का क्षण कहा है । उस क्षण रचनाकार खुद अपनी भी गहराइयों में जितना उतरता है उतना सामान्य स्थितियों में नहीं । इन क्षणों में मन अपने को डिफ़ेन्ड नहीं करता बल्कि अपने अपराधों को स्वीकार करता है । अपने कर्मों का साक्षी और द्रष्टा बन जाता है । यही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है ।

ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो लिखने से पहले काफ़ी सोचते-विचारते हैं यानी जो भीतर उठ-उभर रहा है, उसे पकने देते हैं, फिर काग़ज़ पर उतारते हैं । आप क्या करते हैं ?

लिखने के पहले सोचने-विचारने की प्रक्रिया एक सहज प्रक्रिया है । ऐसा भी होता है कि कोई चीज़ लिखने के पहले काफ़ी समय तक मन में उमड़ती घुमड़ती रहे और ऐसा भी होता है कि रचना तुरन्त ही काग़ज़ पर उतर जाय और लिखने के क्रम में ही उसमें काट-छाँट होती रहे । मगर सोचने-विचारने की प्रक्रिया तो तब तक चलती रहती है जब तक रचनाकार अंतिम रूप से अपनी रचना से संतुष्ट नहीं हो जाता । मेरे साथ दोनों प्रकार की स्थितियाँ घटित होती हैं ।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं, जिनके लिए किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधता है और वे

रचनारत हो जाते हैं । यह आकस्मिकता ही उनकी प्रेरक शक्ति होती है । आपका क्या अनुभव है ?

जो रचनाकार विचारधारा को रचना में तब्दील करते हैं उनके साथ ऐसा बहुत कम घटित होता है कि किसी क्षण विशेष में कुछ कौंधे और उसे वे रचना का रूप दें । लेकिन जो रचनाकार भाव और संवेदना से प्रेरित होकर रचते हैं उनके लिए रचना के क्षण का विशेष महत्व होता है । मेरे साथ क्षण विशेष में कुछ कौंधने का ज़्यादा अनुभव होता है । विचार तो भीतर-भीतर स्थायी भाव की तरह विद्यमान रहता ही है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रचनाकार लिखना कुछ चाहता है और लिख कुछ और जाता है या जिसे अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे सही शब्द नहीं मिलते । यह अवश स्थिति क्या कभी आपने भी महसूस की ?

ऐसा कभी-कभी होता है कि रचनाकार जो लिखना चाहता है उसके लिए उसे उपयुक्त शब्द नहीं मिलता और वह उसके लिए कुछ दूसरे शब्दों का इस्तेमाल कर देता है । मेरे रचनात्मक जीवन में ऐसी एक घटना इतनी साफ़ और उल्लेखनीय है कि मैं उसे जीवन में कभी भूल नहीं सकता । अपनी माँ की मृत्यु पर मैंने कुछ कविताएँ लिखीं । उनमें एक कविता में चित्र है कि चिता पर माँ की काया जल रही है/**पैर जल गए हैं माँ के/हाथ और सिर जल गया है मगर अभी उसके स्तन नहीं जले हैं** । अब मेरे सामने समस्या है — 'स्तन' के लिए कौन-सा शब्द रखूँ ? यह शब्द मुझे बार-बार खटक रहा है । मुझे कवि कुलगुरु **कालिदास** की याद आती है । **रघुवंश** के राजा दिलीप का प्रसंग है । सिंह कहता है — "ये जो सामने देवदारु दिखाई दे रहा है, इसे शिव अपने पुत्र के समान मानते हैं और इसे स्वयं माँ पार्वती ने अपने सोने के घटरूपी स्तनों के दूध से सींच-सींच कर इतना बड़ा किया है ।" अद्‌भुत श्लोक है । सारी दुनिया के साहित्य में मनुष्य और प्रकृति का इससे प्रगाढ़ और पवित्र संबंध नहीं मिलेगा । 'हेम कुंभस्तन निःसृतानां' । इतना सुन्दर उपमान । लेकिन मेरे लिए व्यर्थ । मुझे माँ के लिए 'स्तन' शब्द फिर भी अपने काम का नहीं लगता । एक वर्ष तक मन में निरन्तर खटकते रहने के बाद एक दिन एक दूसरा शब्द दरवाज़ा खटखटाता है जिससे मुझे अद्‌भुत संतोष मिलता है और मैं लिखता हूँ — — **सबसे पहले पैर जले माँ के/फिर सिर जला/जल नहीं रहे थे माँ के/अमृत पयोधर** । 'स्तन' की जगह 'अमृत पयोधर' । भीतर का कवि जो बंधन में छटपटा रहा था, मुक्त हो जाता है और तब मुझे **आचार्य आनन्दवर्द्धन** और **कुंतक** की याद आती है । **आनन्दवर्द्धन** ने सटीक शब्द को, जिसका कोई पर्याय न हो, **ध्वनि काव्य** कहा है । **कुंतक** कहते हैं कि किसी अर्थ का वाचक कोई एक ही शब्द होता है । कवि को ऐसे ही शब्द की तलाश होती है ।

कवि अपने अनुभव को नया, वास्तविक, जीवंत और प्रासंगिक बनाना चाहता है । वह जो अनुभव करता है उसे स्वयं ठीक-ठीक पकड़ना चाहता है । इसी को **टी. एस. इलिएट** ने

यों कहा है कि कवि के भीतर एक रचना भ्रूण पल रहा होता है जिसके लिए उसे शब्द-संधान करना होता है । बल्कि रचते हुए कवि को बराबर लगता है कि कुछ छूट रहा है जिसे भाषा देना ज़रूरी है । यह भाषा और अनुभव का द्वन्द्व है — कवि की अभिव्यक्ति का संकट । सूरदास ने अपने एक पद में इस संकट को बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है -- **अलि हौं कैसे कहौं हरि के रूप रसहिं/अपने तन में भेद बहुत विधि, रसना न जानै नैन की दसहिं/जिन देखे ते आहि वचन विनु, जिनहि बचन दरसन न तिसहिं ।** 'कैसे कहौं हरि के रूप रसहिं' यह कैसे कहने का संकट ही कवि का अभिव्यक्ति का संकट है ।

ऐसा भी हुआ है कि जिस तन्मयता में रचनाकार सृजनरत है, वह तन्मयता किसी बाधा से भंग हुई । ऐसी स्थिति में शब्द-स्खलन हुआ यानी जिस अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द को आना था उसकी जगह दूसरा शब्द आ गया । क्या कभी आप भी इस शब्द-स्खलन के शिकार हुए ?

इस प्रश्न का उत्तर ऊपर दे दिया गया है ।

कुछ विचारकों का मत है कि अवचेतन रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । आपका मंतव्य क्या है ?

अवचेतन निश्चय ही रचना कर्म को बहुत प्रभावित करता है । कवि जब लिख रहा होता है तो अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ और उसके अस्तित्व में उसका अवचेतन भी निहित होता है । चेतन प्रेरणा में कब, कहाँ, कितनी मात्रा में अवचेतन शामिल हो जाया करता है, यह स्वयं कवि भी नहीं जानता । इसीलिए कवि को स्वयं अपनी ही रचना पर कभी-कभी आश्चर्य होने लगता है ।

अपनी रचना-प्रक्रिया के विषय में अनेक लोगों ने लिखा कहा है । कुछ का कहना है कि यह जटिल क्रिया है, जिसके बारे में केवल अनुमान किया जा सकता है । कुछ का मानना है कि यह जल की भाँति संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसे वैज्ञानिक ढंग से बताया जा सकता है यानी यह गूँगे का गुड़ नहीं वरन् पारदर्शी तरलता है जल की, हाइड्रोजन और आक्सीजन से बनने वाले जल की । कुछ का मानना है कि रचना-प्रक्रिया निर्वाक् स्थिति है । आप क्या अनुभव करते हैं । कृपया अपनी रचना-प्रक्रिया के संबंध में विस्तार से लिखें ।

रचना-प्रक्रिया में दोनों स्थितियाँ होती हैं । कहीं वह अति स्पष्ट भी होती है और कहीं जटिल तथा रहस्यमय भी । इसे रचना विशेष की प्रकृति और आकृति में ही अच्छी तरह देखा और विश्लेषित किया जा सकता है । रचना प्रक्रिया अव्याखेय नहीं है मगर उसकी व्याख्या मुश्किल ज़रूर है । कभी-कभी तो बहुत कोशिशों के बाद भी पूरी तरह पकड़ में नहीं आती । कभी-कभी बिना किसी प्रयत्न के उसके बारे में कहा जा सकता है । इस पर विस्तार से तभी लिखा जा सकता है जब ठोस रचनाओं के उदाहरण सामने हों । इस पर फिर कभी । ●

प्रकाशित कृतियाँ :

कविता :

विश्वास रच रहा है मुझे

आलोचना :

छविनाथ मिश्र : सृजन एवं संघर्ष

सम्पादन :

नारीमंच अपूर्वा (त्रैमासिक)

स्वर सामरथ (त्रैमासिक)

साहित्य बुलेटिन (मासिक)

सम्पादित ग्रन्थ :

एक गौरव यात्रा (आचार्य कल्याणमल लोढ़ा अभिनन्दन ग्रन्थ)

आरंभिक रचनाएँ **नवाकुंर** में प्रकाशित

सम्पर्क :

31, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट

कोलकाता - 700 007

प्रतिध्वनि
2002
31, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कोलकाता - 700 007